

श्रीमद्वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गत-द्वितीयः



बालबोधः ।



(समस्त तीन संस्कृत टीकाओं के हिंदी-अनुवाद, श्लोकार्थ, ग्रन्थसार

एवं

बोधिका

टीका सहित)



संपादक व लेखक

गोस्वामी राजकुमार

प्रकाशक

गोस्वामी राजकुमार नृत्यगोपालजी

“चरणाट” बंगला नं. 5, ठाकुर विलेज, ठाकुर डिग्री कॉलेज के सामने,
कांदिवली (पूर्व), मुंबई - 400 101 • दूरभाष : 2884 6506 मो. : 9769623724

वि. सं. 2069 • बल्लभाब्द 535

प्रति : 1000

बालबोधः ।

अनुक्रमणिका

क्रमांक	प्रकरण	पृष्ठसंख्या
१.	बालबोधः(मूलपाठ)श्लोकार्थः.....	१
२.	श्रीदेवकीनन्दनानां प्रकाशः.....	४
३.	श्रीपुरुषोत्तमानां विवृतिः.....	३०
४.	श्रीद्वारकेशानां टीका.....	६३



श्रीकृष्णाय नमः
श्रीमद्भगवद्गदनावतारश्रीमद्भूभाचार्यचरणप्रणीतः

बालबोधः ।

श्लोकार्थ

नत्वा हरिं सदानन्दं सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहम् ।

बालप्रबोधनार्थाय वदामि सुविनिश्चितम् ॥१॥

सदानन्द हरि को नमस्कार करके बालकों का प्रबोधन करने के लिए सुविनिश्चित सर्वसिद्धान्तसंग्रह कह रहे हैं ॥१॥

धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्रित्वारोऽर्था मनीषिणाम् ।

जीवेश्वरविचारेण द्विधा ते हि विचारिताः ॥२॥

विद्वानों के लिए धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं (विद्वानों ने इन चार पुरुषार्थों को ही स्वीकार किया है)।

जीव और ईश्वर दोनों के द्वारा किए गए विचार के द्वारा इन पुरुषार्थों का दो प्रकार से विचार किया गया है ॥२॥

अलौकिकास्तु वेदोक्ताः साध्यसाधनसंयुताः ।

लौकिका ऋषिभिः प्रोक्तास्तथैवेश्वरशिक्षया ॥३॥

अलौकिक-पुरुषार्थ साध्य-साधन दोनों के सहित वेद में कह दिए गए हैं,

जबकि लौकिक-पुरुषार्थ ऋषियों ने कहे हैं, क्योंकि ईश्वर ने उन्हें वैसी ही प्रेरणा दी थी ॥३॥

लौकिकास्तु प्रवक्ष्यामि वेदादाद्या 'यतः स्थिताः ।

धर्मशास्त्राणि नीतिश्च कामशास्त्राणि च क्रमात् ॥४॥

त्रिवर्गसाधकानीति न तन्निर्णय उच्यते ।

चूँकि अलौकिकपुरुषार्थ तो वेद में ही कहे जा चुके हैं, अतः इस ग्रन्थ में हम लौकिक-पुरुषार्थों के विषय में कहेंगे। धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र और कामशास्त्र ये तीनों क्रमशः, ॥४॥

लौकिकत्रिवर्ग के साधक हैं यानि लौकिक धर्म-अर्थ-काम के साधक हैं, और चूँकि इन शास्त्रों ने इनका निर्णय भी कह ही दिया है अतः इस ग्रन्थ में हम इनका निर्णय नहीं कह रहे हैं।

मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि लौकिके परतः स्वतः ॥५॥

द्विधा द्वे द्वे स्वतस्तत्र सांख्ययोगौ प्रकीर्तितौ ।

त्यागात्यागविभागेन सांख्ये त्यागः प्रकीर्तितः ॥६॥

लौकिकमोक्ष का निर्णय करने में चार शास्त्र हैं, जिनको दो विभागों में बाँटा गया है- (1) एक परतः-मोक्ष, (2) दूसरा स्वतः-मोक्ष । इन दोनों विभागों के दो-दो प्रकार हैं, उनमें से (1) स्वतः-मोक्ष के (क) सांख्य और (ख) योग ये दो प्रकार हैं।

स्वतः-मोक्ष में त्याग और अत्याग के भेद हैं, सांख्य में मोक्ष के लिए त्याग करना बताया गया है, और योग में अत्याग ॥६॥

अहन्ताममतानाशे सर्वथा निरहङ्कृतौ ।

स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते ॥७॥

सांख्य में अहन्ताममता का नाश हो जाने के पश्चात् जब सर्वथा निरहङ्कृति (अहंकार न करने की वृत्ति) उत्पन्न हो जाती है, और जब जीव स्वरूपस्थ (में आत्मा हूँ-ऐसा ज्ञान) हो जाता है, तब कृतार्थ हुआ कहा जाता है ॥७॥

तदर्थं प्रक्रिया काचित् पुराणेऽपि निरूपिता ।

ऋषिभिर्बहुधा प्रोक्ता फलमेकमबाह्यतः ॥८॥

सांख्य द्वारा मोक्षप्राप्ति की कुछ प्रक्रिया पुराण में भी निरूपित की गयी है, ऋषियों ने भी सांख्य के विषय में बताया है, परन्तु उन सभी प्रक्रियाओं में ईश्वरवादी-सांख्य का फल तो एक समान ही है ॥८॥

अत्यागे योगमार्गो हि त्यागोऽपि मनसैव हि ।

यमादयस्तु कर्त्तव्याः सिद्धे योगे कृतार्थता ॥९॥

अत्याग बताने वाले योगमार्ग में त्याग होता भी है, तो वह मानसिकत्याग ही होता है, यानि योग में बाह्यपदार्थों का त्याग नहीं बताया गया है।

यम-नियम-आसन इत्यादि का अभ्यास करने पर जब योग सिद्ध हो जाता है, तब कृतार्थता होती है ॥९॥

पराश्रयेण मोक्षस्तु द्विधा सोऽपि निरूप्यते ।

ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातस्तद्रूपेण सुसेव्यते ॥१०॥

पराश्रयेण-मोक्ष यानि परतमोक्ष भी दो प्रकार का बताया गया है, (ग) एक शिव से प्राप्त होने वाला और (घ) दूसरा विष्णु से प्राप्त होने वाला। इस प्रकार के मोक्ष का भी निरूपण इस ग्रन्थ में कर रहे हैं।

ब्रह्मा तो समस्त ब्राह्मणों के रूप हैं, अतः ब्राह्मणों का आदर-सत्कार होने के रूप में ही उनकी सेवा होती समझनी चाहिए ॥१०॥

ते सर्वार्था न चाऽऽद्येन शास्त्रं किञ्चिदुदीरितम् ।

अतः शिवश्च विष्णुश्च जगतो हितकारकौ ॥११॥

ये सभी पुरुषार्थ ब्रह्मा से नहीं प्राप्त होते क्योंकि ब्रह्माजी ने मोक्षशास्त्र(वैखानसतन्त्र)अल्प मात्रा में लिखा है।

अतः शिव और विष्णु ही जगत के हितकारक सिद्ध होते हैं ॥११॥

‘वस्तुनः स्थितिसंहारौ कार्यौ शास्त्रप्रवर्त्तकौ ।

ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् सर्वात्मकतयोदितौ ॥१२॥

निर्दोषपूर्णगुणता तत्तच्छास्त्रे तयोः कृता ।

वस्तुमात्र की 'स्थिति' और 'संहार' ये दोनों इनके कार्य हैं और दोनों प्रकार के शास्त्रों के भी ये प्रवर्त्तक हैं(पञ्चरात्र एवं पाशुपत), चूँकि वास्तव में तो ब्रह्म ही शिवरूप और विष्णुरूप होकर ये सभी कार्य करते हैं, अतः ब्रह्म के कार्य करते बताए जाने के कारण ही उन-उन शास्त्रों में शिव और विष्णु को सर्वात्मकरूप से कह दिया गया है ॥१२॥

उन-उन शास्त्रों में शिव और विष्णु की निर्दोषता और पूर्णगुणता भी कही गयी है।

भोगमोक्षफले दातुं शक्तौ द्वावपि यद्यपि ॥१३॥

भोगः शिवेन मोक्षस्तु विष्णुनेति विनिश्चयः ।

यद्यपि शिव और विष्णु दोनों ही 'भोग' और 'मोक्ष' ये दोनों फल देने में समर्थ हैं, तथापि, ॥१३॥

शिव 'भोग' देते हैं और विष्णु 'मोक्ष' देते हैं- यह बात सुनिश्चित है।

लोकेऽपि यत्प्रभुर्भुङ्क्ते तन्न यच्छति कर्हिचित् ॥१४॥

लोक में भी ऐसा नियम देखा जाता है कि, जिस फल का भोग स्वामी करता है, उसे अन्य किसी दूसरे को नहीं देता, इसलिए चूँकि शिव मोक्षरूप पदार्थ का उपभोग करते हैं अतः वे मोक्ष किसी को नहीं देते और चूँकि विष्णु भोगरूप पदार्थ का उपभोग करते हैं अतः वे भोग किसी को नहीं देते ॥१४॥

‘अतिप्रियाय तदपि दीयते क्वचिदेव हि ।

नियतार्थप्रदानेन तदीयत्वं तदाश्रयः ॥१५॥

किन्तु अपने किसी अतिप्रिय भक्त को कभी दे भी देते हैं।

१. 'वस्तुस्थितौ च संहारे कार्ये "इति क्वचित्पाठः" इत्युक्तं श्रीदेवकीनन्दनचरणैः स्वटीकायाम् वस्तुनः स्थितिसंहारे कार्ये इत्यपि पाठः क्वचिदिति प्रोक्तं श्रीपुरुषोत्तमचरणैः। २. अतः प्रियायेति पाठः श्रीद्वारिकेश्वराणाम्।

और जब वे निश्चितफल(जो फल ये निश्चितरूप से देते हैं यानि शिव 'भोग' और विष्णु 'मोक्ष')किसी को देते हैं, तो इसके द्वारा यह बात सिद्ध होती है कि, वह उनका 'तदीय' और 'तदाश्रय' है, क्योंकि इसी कारण उसे फलदान हुआ ॥15॥

प्रत्येकं साधनञ्चैतद् द्वितीयार्थे महाञ्छ्रमः ।

इनसे फलप्राप्ति करने के लिए 'तदीय' और 'तदाश्रय' दोनों ही साधन हैं परन्तु दूसरी वस्तु देने में शिव और विष्णु को महान श्रम होता है, यानि शिव चूँकि 'भोग' देते हैं इसलिए उन्हें 'मोक्ष' देने में श्रम होता है एवं विष्णु चूँकि 'मोक्ष' देते हैं इसलिए उन्हें 'भोग' देने में श्रम होता है।

जीवाः स्वभावतो दुष्टा दोषाभावाय सर्वदा ॥१६॥

श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिद्ध्यति ।

जीव स्वभावतः दुष्ट है अतः अपने दोष को दूर करने के लिए एवं 'भोग' या 'मोक्ष' प्राप्त करने के लिए उसे, ॥16॥ श्रवणादि करने चाहिए और श्रवणादि करने से उसमें इनके प्रति प्रेम उत्पन्न होगा और प्रेम के द्वारा समस्त कार्य सिद्ध हो जायेंगे।

मोक्षस्तु सुलभो विष्णोर्भोगश्च शिवतस्तथा ॥१७॥

अतः मोक्ष प्राप्त करना 'विष्णु' द्वारा सुलभ होता है और भोग प्राप्त करना 'शिव' द्वारा सुलभ होता है ॥17॥

समर्पणेनाऽऽत्मनो हि तदीयत्वं भवेद्बुधम् ।

अतदीयतया चाऽपि केवलश्चेत्समाश्रितः ॥१८॥

तदाश्रयतदीयत्वबुद्धयै किञ्चित्समाचरेत्^१ ।

स्वधर्ममनुतिष्ठन् वै भारद्वागुण्यमन्यथा ॥१९॥

आत्मा का समर्पण करने पर ही निश्चितरूप से भक्त तदीय बनता है,

किन्तु, यदि तदीय न बन पाया हो तब भी केवल भलीभाँति आश्रय करना चाहिए और, ॥18॥

'तदीय' और 'तदाश्रय' की बुद्धि जाग्रत करने के लिए अपने स्वधर्म का पालन करते हुए उसे कुछ साधन करने चाहिए, अन्यथा उसका भार द्विगुणित हो जायेगा ॥19॥

इत्येवं कथितं सर्वं नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः ॥१९^१/२॥

इति बालबोधः समाप्तः ।

इस प्रकार से हमने यह सभी कुछ कह दिया और इसको जान लेने पर पुनः भ्रम नहीं होगा ॥19^१/२॥

। बालबोधग्रन्थ समाप्त हुआ ।



श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्भगवद्ब्रह्मनामतारश्रीमद्भूमाचार्यचरणप्रणीतः ।

बालबोधः ।

श्रीदेवकीनन्दनचरणकृतप्रकाशव्याख्योपेतः ।



यच्चमत्कृतिरेवाऽन्तर्निरस्यति तमः स्मृता ।

अलङ्कुर्वन्तु मद्वाचमाचार्यचरणत्विषः ॥१॥

यदाश्रयवतामेव वल्लवीजनवल्लभः ।

प्रसीदति विनोपायैर्विद्वलेशं तमाश्रये ॥२॥

पितृपादाम्बुजयुगं भक्त्या नत्वा मुहुस्त्रिधा ।

मतिं स्वामनतिक्रम्य बालबोधो विचार्यते ॥३॥

श्रीवल्लभाचार्यचरणों की कान्ति मेरी वाणी को अलंकृत करे,

जिसके प्रकाश से ही स्मरण करने वालों के अन्तःकरण का अन्धकार मिटता है ॥१॥

जिनका आश्रय करने वालों पर ही गोपीजनों के प्रिय भगवान बिना किसी उपाय के प्रसन्न होते हैं,

उन विद्वलेशचरणों का मैं आश्रय लेता हूँ ॥२॥

पितृचरणकमलों को भक्तिपूर्वक त्रिप्रकारक(मनसा-वाचा-कर्मणा)नमन करके

यथामति बालबोधग्रन्थ का विचार करते हैं ॥३॥

भक्तिमार्गे फलं कृष्णस्तदास्वादस्तु दुर्लभः ।

जीवानामत एवाऽन्यमतेषूत्पद्यते रतिः ॥४॥

भक्तिमार्ग में फल हैं कृष्ण और उनका आस्वाद प्राप्त होना है दुर्लभ,

इसी कारण जीवों की अन्य मतों में रति उत्पन्न हो जाती है ॥४॥

तत्प्रेरितेन रुद्रेण मतान्युक्तानि वै कलौ ।

विशेषतः प्रवर्तन्ते स्वातन्त्र्यं न यतो नृणाम् ॥५॥

तत्तत्फलप्रशंसैव तत्र तत्र निरूप्यते ।

तन्मोहवशतो लोकः परिभ्रमति केवलम् ॥६॥

अतः कदाऽपि कृष्णस्य भजनं लभते न सः ।

फलाभावाद्वैवसृष्टिर्व्यर्था भवति सर्वथा ॥७॥

भगवान से प्रेरित होकर रुद्र ने कलिकाल में वे मत कहे हैं,

जिनमें सभी विशेषरूप से प्रवृत्त हो जाते हैं और फिर कभी उनसे छूट नहीं पाते ॥५॥

उन-उन मतों में प्राप्त होने वाले उन-उन फलों की वहाँ प्रशंसा ही की गयी है,

इसलिए उन फलों के मोहवश लोग उन्हीं प्रकार के मतों में परिभ्रमण करते रहते हैं ॥६॥

अतः ऐसों को कृष्णभजन कदापि प्राप्त नहीं होता,

यों, फलप्राप्त न होने के कारण दैवीसृष्टि सर्वथा व्यर्थ हो जाती है ॥७॥

‘दैवी सम्पद्धिमोक्षाये’त्युक्तिस्तर्हि विरुध्यते ।

अतः करुणया बालबोधमग्निश्चकार हि ॥८॥

ऐसा होगा तो बात "दैवीसृष्टि मुक्त होने के लिए है(भ०गी-16/5)" इस भगवद्वाक्य से विरुद्ध चली जायेगी,

अतः अग्निस्वरूप आचार्यचरणों ने करुणा करके बालबोधग्रन्थ प्रकट किया ॥८॥

अष्टादशानामत्र श्रीभगवद्वचसामपि ।

पुराणानां स्मृतीनां च प्रामाण्यज्ञापनाय हि ॥९॥

तावन्तः कथिताः श्लोका आद्येनोपक्रमस्तथा ।

अन्तेऽर्द्धेनोपसंहारस्तेन साद्धौनविंशतिः ॥१०॥

भगवद्गीता के अठारह अध्याय, अठारहपुराण एवं स्मृतियों की जो प्रामाणिकता है,

वही प्रामाणिकता इस ग्रन्थ की भी है- यह बात बताने के लिए इस ग्रन्थ में अठारह श्लोक हैं, यानि जो बात गीता के

अठारह अध्यायों में एवं अठारह पुराणों में कही गयी है, वही बात इस ग्रन्थ के अठारह श्लोकों में कही गयी है ॥९॥

इसके अतिरिक्त पहले श्लोक से उपक्रम और अन्त के आधे श्लोक द्वारा उपसंहार करके साढ़े उन्नीस श्लोक पूर्ण होते हैं ॥१०॥

अथ मतान्तरेषु पुरुषार्थचतुष्टयस्य फलत्वेन कथनात्तदर्थितया जीवानां प्रवृत्तेर्भक्तेरगौरवमसहिष्णवस्तन्मार्गप्रकटनायोक्तचतुष्टयस्याऽपुरुषार्थत्वं समर्थयन्तः किञ्चित्स्वमतं वक्तुमादौ विघ्नाभावाय समङ्गलं तदुद्दिशन्ति नत्वेति ।

नत्वा हरिं सदानन्दं सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहम् ।

बालप्रबोधनार्थाय वदामि सुविनिश्चितम् ॥१॥

हरिं सदानन्दं नत्वा सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहं वदामीति पदसम्बन्धः । हरिपदेन दुःखाभावसम्पादनपाटवोक्त्या समारब्धान्तरायापायः सूचितः । सदानन्दपदेन 'कृषिर्भूवाचकः शब्द' इति निरुक्तेः सुखरूपः श्रीकृष्ण उक्तः । तेन 'दुःखाभावः सुखं चेति पुरुषार्थद्वयं' निष्प्रत्यूहं ततः सिद्ध्यतीति तं नत्वेत्युक्तम् ।

अन्य मतों में चारों पुरुषार्थों को फलरूपतया कहा गया है, अतः उन फलों को प्राप्त करने के लिए जीवों को उनमें प्रवृत्त होता देख कर आचार्यचरणों को लगा कि भक्ति का गौरव घट रहा है, आपश्री को यह सहन नहीं हुआ इसलिए भक्तिमार्ग को प्रकट करने के लिए और यह बताने के लिए कि जीव जिन चार पुरुषार्थों को पुरुषार्थ समझते रहे हैं, वे वास्तव में पुरुषार्थ हैं ही नहीं और परमपुरुषार्थ तो भक्ति है- यह अपने मत को भी कहने के लिए आचार्यचरण सर्वप्रथम विघ्न दूर करने के लिए मंगलपूर्वक नत्वा इत्यादि शब्दों से ग्रन्थ का आरंभ कर रहे हैं।

श्लोकपदों का सम्बन्ध है- "सदानन्द-हरि को नमन करके सर्वसिद्धान्तों का संग्रह कह रहा हूँ"। आचार्यचरणों ने यहाँ 'हरि' पद के द्वारा भगवान की दुःख दूर करने की पटुता को बताकर इस ग्रन्थ का आरम्भ करने में आने वाले विघ्नों का दूर हो जाना सूचित किया है। 'सदानन्द' पद के द्वारा आपश्री ने "कृषिर्भूवाचकः शब्दः(महाभारत/उद्योगपर्व/70/5)" इस निरुक्ति के अनुसार सुखरूप श्रीकृष्ण कहे हैं, अतः श्रीकृष्ण को सुखरूप कहा होने से "दुःखाभावः सुखं च(सर्व-16)" इस वाक्य में जिस पुरुषार्थ की बात आपश्री ने कही है, वह पुरुषार्थ निष्कण्टकरूप से सिद्ध होगा, अतः आपश्री इस बात का अनुसन्धान रखते हुए ऐसे सदानन्दश्रीकृष्ण को नमन करके इस ग्रन्थ का आरंभ कर रहे हैं।

स्वसिद्धान्तनिर्गलितमर्थमिममेवाऽग्रे निर्णेतुमारभन्ते सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहवदामीति । सर्वानपि सिद्धान्तान्सङ्गृह्य एकीकृत्य वदामीत्यर्थः । यद्वा, सर्वेषामपि तेषां सम्यगिदमित्थतया ग्रहो ज्ञानं येन तादृशं ग्रन्थं तथेत्यर्थः ।

अपने सिद्धान्त का सार तो यही है(यानि भक्ति ही परमपुरुषार्थ है-यह अपने सिद्धान्त का सार है)और आगे इसी का निर्णय

करने के लिए आपश्री ने ग्रन्थ का आरम्भ सर्वसिद्धान्तसंग्रहं वदामि इत्यादि शब्दों से किया है। इसका अर्थ है- समस्त सिद्धान्तों का संग्रह करके कह रहे हैं, यानि समस्त सिद्धान्तों को इकट्ठा करके कह रहे हैं। अथवा, सर्वसिद्धान्तसंग्रहं का अर्थ है- (संग्रह शब्द का अर्थ है- सं=भलीभाँति, ग्रह= ज्ञान) समस्त सिद्धान्तों का भलीभाँति ज्ञान होता है जिससे, यानि जो सिद्धान्त जैसा है वैसा ही ज्ञान होता है जिस ग्रन्थ से, ऐसे ग्रन्थ को कह रहे हैं।

यद्यपि तत्तच्छास्त्रैरपि तत्तन्मतपरिज्ञानं भवति, तथापि भ्रान्तिसंवलितमेव, तद्वक्तृणां प्रतारकत्वात् । तत्र च हेतुरग्रे वक्ष्यते - 'तथैवेश्वरशिक्षये'ति । अत्र तु तन्निवृत्तिपूर्वमिति ज्ञाने सम्यक्त्वमुक्तम् । तदपि हेयत्वेन न तूपादेयत्वेनेति ज्ञेयम्, स्वमार्गविरोधित्वात् ।

यद्यपि आचार्यचरणों को अन्य मतों के बारे में बताने की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि उन-उन शास्त्रों के द्वारा भी उन उन मतों का परिज्ञान तो हो ही जाता है, तथापि, उन-उन मतों को पढ़ने से जिन सिद्धान्तों का ज्ञान होगा, वह भ्रान्तिपूर्ण ही होगा क्योंकि उनके मतों को बताने वाले स्वयं ही भ्रान्त कराने वाले हैं। इसका हेतु आचार्यचरणों ने आगे तथैवेश्वरशिक्षया(3)शब्द से कहा है। जबकि यहाँ तो आचार्यचरण उन भ्रान्तियों को दूर करके अन्य मतों के विषय में बता रहे हैं, इसलिए आपश्री ने इस ग्रन्थ द्वारा सर्वसिद्धान्तों का ज्ञान होने को भलीभाँति ज्ञान होना कहा है। और यदि आचार्यचरण अन्य मतों के विषय में बता भी रहे हैं, तो हेयदृष्टि से ही बता रहे हैं, न कि इस दृष्टि से कि वे हमारे लिए उपयोगी हैं- यह जान लेना चाहिए, क्योंकि वे सभी मत अपने मार्ग के विरोधी हैं।

ननु किं तादृशप्रयासेन, प्रयोजनाभावात्, अत आहुर्बालप्रबोधनार्थायेति । बाला हि स्वतः शास्त्रतो वेष्टानिष्टविचाररहिताः केनचित्प्रतारणार्थमिष्टेऽनिष्टत्वेऽनिष्टेऽपीष्टत्व उच्यमाने तत्र भ्रान्तास्तमेवाऽनुवर्तन्ते । पुनः पित्रादिना तदुणदोषवर्णने कृते तद्भ्रममपहाय तत्प्रदर्शितं स्वहितवर्त्म गृह्णन्ति । न तु तेषामुभयत्र स्वाभाविकं ज्ञानं प्रयोजकमस्ति ।

किसी को यह शंका होती है कि, जब हम पुष्टिभक्तिमार्गीयों को इन लौकिकपुरुषार्थों से कोई प्रयोजन ही नहीं है, तो फिर आचार्यचरणों को व्यर्थ में इनके बारे में बताने का प्रयास करने की क्या आवश्यकता थी ! तो आपश्री इसका स्पष्टीकरण बालप्रबोधनार्थाय इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। बालक स्वतः या शास्त्र द्वारा अपने इष्ट या अनिष्ट का विचार नहीं कर सकते, यदि कोई उन्हें भ्रमित करने के लिए इष्ट को अनिष्ट बताए और अनिष्ट को इष्ट बता दे, तो वे उससे भ्रान्त होकर उसके कहे अनुसार ही करने लग पड़ते हैं। तत्पश्चात् जब कभी उनके पिता-गुरु इत्यादि उस वस्तु के गुण-दोष का वर्णन उन्हें करते हैं, तब उनका भ्रम दूर होता है और तब वे उनके द्वारा बताया गया अपना हितकारी मार्ग अपनाते हैं। दोनों ही स्थानों पर, यानि कि कोई भ्रमित करे या कोई उचित मार्ग बताए, दोनों ही स्थानों पर उनका स्वाभाविकज्ञान प्रयोजक नहीं होता अपितु उन्हें जैसा सिखाया जाता है, वे वैसा ही करने लगते हैं।

परं वातादिकृतसहजभ्रमरहिताश्चेत्, तादृशानामप्रतीकार्यत्वादिति । तादृशा आसुरत्वादिस्वभावदोषरहिता मोहशास्त्रैः परिभ्रामिता न भक्तिपदवीमनुसरन्ति जीवाः, ते बाला इत्युच्यन्ते । तेषां प्रकर्षेण बोधनं स्वमतज्ञानलक्षणं, तदर्थयेत्यर्थः । पुनरतथा त्वाय बोधने प्रकर्ष उक्तः । पित्रादिवत्स्वस्य तत्प्रबोधनमावश्यकमिति ज्ञापयितुमपि तेषां बालत्वमुक्तम् । अन्यथा दैवसर्गस्य फलराहित्येन वैयर्थ्यं स्यात् । उक्तं च "दैवी सृष्टिर्व्यर्था च भूयान्निजफलरहिते"ति ।

परन्तु सिखाया भी उन्हें जा सकता है, जो वात-पित्त आदि के कारण सहज ही भ्रान्त न हों अर्थात् शारीरिक या मानसिक ढंग से अस्वस्थ न हों क्योंकि ऐसों को तो कुछ भी समझाया-सिखाया नहीं जा सकता। यानि इसका अर्थ यह हुआ कि यहाँ 'बाल' शब्द से आचार्यचरणों का तात्पर्य उनसे है, जो आसुरत्व आदि स्वभावदोष वाले नहीं हैं अपितु ऐसे जीव हैं जो मोहशास्त्रों द्वारा परिभ्रमित करा दिए गए हैं और उसके कारण भक्तिमार्ग का अनुसरण नहीं कर पा रहे हैं। उन बालकों का व्यवस्थितरूप से बोधन कराने का अर्थ उन्हें अपने मत का ज्ञान कराना है, इस कारण आपश्री उन्हें बोधन करा रहे हैं। आपश्री द्वारा बोधन करा देने के पश्चात् फिर से उन्हें कभी कोई भ्रम नहीं होगा- यह प्रबोधन शब्द में प्रयुक्त 'प्र' उपसर्ग का तात्पर्य है। चूँकि आचार्यचरण तो अपने निजजनों के लिए पिता समान हैं और पिता आदि के लिए अपने बालक को बोधन

कराना आवश्यक होता है अतः आपश्री ने उन्हें 'बाल' कहा है। यदि आपश्री अपने निजजनों को भ्रान्त होने दें और उन्हें अपने मार्ग का बोधन न कराएँ, तो दैवीसृष्टि फलप्राप्ति से वंचित रह जाय और व्यर्थ चली जाय- यह अर्थ है। यही बात आपश्री के लिए "दैवीसृष्टिर्व्यर्था च(वल्लभा-2)" इस वाक्य द्वारा भी कही गयी है।

ननु किमेतदुच्यमानं प्रमाणसिद्धमुत स्वबुद्धिकल्पितमित्यत आहुः सुविनिश्चितमिति । सुष्ठु वेदादिप्रमाणैर्विशेषेण स्वस्य वागाधिपतित्वात्स्वबुद्ध्या च निश्चितं निर्णीतमित्यर्थः ॥१॥

यदि कोई ऐसी शंका करे कि, आपश्री यहाँ जो कुछ बता रहे हैं, वो क्या प्रमाणसिद्ध बात है अथवा तो आपश्री की अपनी बुद्धि की कल्पना मात्र है ! तो इसका स्पष्टीकरण आपश्री के सुविनिश्चितम् पद से ज्ञात होता है। निश्चय पद में 'सु' और 'वि' उपसर्ग लगाने का तात्पर्य यह है कि, आपश्री ने इस ग्रन्थ में जो-जो बातें बतायी हैं, वे वेदादि प्रमाणों के अनुसार हैं और चूँकि आपश्री स्वयं वाणी के अधिपति हैं अतः आपश्री ने बुद्धिपूर्वक निश्चित करके, निर्णीत करके बताया है- यह अर्थ है ॥१॥

प्रथमं मतान्तरीयपुरुषार्थचतुष्टयस्याऽनुपादेयत्वकथनाय वैदिकतच्चतुष्टयभिन्नत्वमुपपत्त्या निर्द्धारयन्ति धर्मार्थकाममोक्षाख्या इति ।

धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्चत्वारोऽर्था मनीषिणाम् ।

जीवेश्वरविचारेण द्विधा ते हि विचारिताः ॥२॥

एते चत्वारो मनीषिणां विदुषामर्थाः पुरुषार्था इत्यर्थः । वस्तुतस्तु पुरुषार्थत्वेन भक्तिमार्गीया एव धर्मादयश्चत्वारो गण्यन्ते, न त्वितरे । 'अनिमिक्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी'त्यादिवचनैर्भक्तेरेव सर्वतोऽधिकत्वश्रवणात् । अन्येषां धर्मादिसंज्ञामात्रमिति ज्ञापनायाऽऽख्यापदम्, अपुरुषार्थताज्ञापनाय पुरुषपदप्रयोगाभावश्चोक्तः^१ । मनीषिणामित्यनेन सर्वानधिकारित्वाच्च तथेति ज्ञापितम् । भक्तौ तु "देवोऽसुरो मनुष्यो वे"ति सामान्यनिर्देशादुक्तदूषणाभावः स्फुटः ।

सर्वसिद्धान्तों के विषय में बताने में प्रथमतया अन्य मतों में बताए गए चारों पुरुषार्थों को अनुपयोगी सिद्ध करने के लिए आपश्री आगे उन्हें वैदिक पुरुषार्थचतुष्टय से भिन्न बता रहे हैं। यह आपश्री ने धर्मार्थकाममोक्षाख्या इत्यादि शब्दों से निर्धारित किया है।

आपश्री आज्ञा करते हैं- ये धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चार पुरुषार्थ विद्वानों के लिए हैं। वास्तव में तो आपश्री पुरुषार्थों के रूप में भक्तिमार्गीय धर्म-अर्थ-काम आदि चार पुरुषार्थों की ही वास्तविक पुरुषार्थों में गणना कर रहे हैं, ऊपर कहे अन्य पुरुषार्थों को नहीं, क्योंकि "अनिमिक्ता भागवती(श्री०भा- 3/25/33)" इत्यादि वचनों के अनुसार पुरुषार्थों की अपेक्षा भक्ति की ही सबसे अधिकता सुनी गयी है। और इसी कारण अन्य मतों में बताए गए धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष आदि तो बस नाम मात्र के लिए हैं, वे वास्तविक पुरुषार्थ नहीं हैं, वास्तविक परमपुरुषार्थ तो केवल भक्ति है- यह बात विशेषरूप से बताने के लिए आपश्री ने इन पुरुषार्थों के लिए 'आख्या(नाम)' पद का प्रयोग किया है; और वे पुरुषार्थ नहीं हैं- यह बताने के लिए आपश्री ने उन्हें 'पुरुषार्थ' न कहते हुए केवल 'अर्थ' कहा। मनीषिणां(विद्वान्) इस पद के द्वारा आपश्री ने यह बताया है कि, सभी इन पुरुषार्थों के अधिकारी नहीं हैं अपितु जो विद्वान् हैं केवल उन्हीं को सिद्ध होंगे। किन्तु इसके विपरीत भक्ति के लिए तो "देवोऽसुरो मनुष्यो(श्री०भा-7/7/50)" इस वाक्यानुसार सभी योग्य बताए गए हैं अतः ऊपर कहा दूषण भक्तिमार्ग में लागू नहीं पड़ता।

किञ्च । कालादीनामङ्गत्वेन तदशुद्ध्या धर्मादयः पुरुषार्था इति तु वार्त्तामात्रम्, स्वरूपासिद्धेः । भक्तेस्तु भगवदनुग्रहैकजन्यत्वेन तत्स्वरूपसिद्धौ न तेषामङ्गतेति न तदशुद्धेर्बाधकत्वम्, प्रत्युत तेषामनुगुणत्वमेव । तदुक्तम्, 'कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुण' इति । 'कलिं सभाजयन्त्याय्या गुणज्ञाः सारभागिन' इति च । तेन भक्तिरेव परमपुरुषार्थ इति निरूपितम् ।

इन पुरुषार्थों को सिद्ध करने में काल इत्यादि अंगभूत होते हैं और काल अशुद्ध होने के कारण धर्म-अर्थ आदि पुरुषार्थ वर्तमान में तो बस कहने मात्र के लिए रह गए हैं क्योंकि जब धर्म सिद्ध करने के अंग ही अशुद्ध हैं, तो धर्मपुरुषार्थ का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता। जबकि भक्ति तो केवल भगवदनुग्रह से ही प्राप्त होती है अतः भक्ति का स्वरूप सिद्ध होने में काल इत्यादि का अंगभूत होना

आवश्यक ही नहीं है इसलिए यदि काल इत्यादि अशुद्ध होते भी हों, तथापि वे भक्तिमार्ग में बाधक नहीं होते; उल्टे साधक ही होते हैं, जैसा कि "कलेर्दोषनिधे राजन् (श्री०भा-12/3/51)" इस वाक्य में और "कलिं सभाजयन्ति (श्री०भा-11/5/36)" इस वाक्य में भी कहा गया है। इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि, भक्ति ही परमपुरुषार्थ है।

ननु वेदानामीश्वरवाक्यत्वेन तत्प्रतिपादितानां तेषां कथमतथात्वमिति चेत्, तत्राऽऽहुः जीवेश्वरविचारेणेति । ते धर्मादयो जीवविचारेणेश्वरविचारेण च द्विधा द्विप्रकारका विचारिता भिन्ना इत्यर्थः । तेन जीवविचारितानामेवाऽपुरुषार्थता न त्वीश्वरविचारितानामिति ध्वन्यते । ईश्वरोक्तानां तु पुरुषार्थता परं मर्यादायामिति ज्ञेयम् । पुष्टौ तेषामप्यनपेक्ष्यत्वात् । हिशब्दोऽत्र युक्तार्थतां सूचयति । न हि पूर्णज्ञानवद्विचारितस्याऽल्पज्ञानवद्विचारितस्य चैक्यं भवितुमर्हति, भिन्नविषयत्वात् ॥२॥ किन्तु यदि कोई ऐसी शंका करे कि, वेद तो ईश्वरवाक्य हैं, फिर ईश्वर द्वारा प्रतिपादित वेदोक्तपुरुषार्थों को आपश्री पुरुषार्थ क्यों नहीं मान रहे हैं ? तो आचार्यचरण इसका स्पष्टीकरण जीवेश्वरविचारेण इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- धर्म आदि पुरुषार्थ "जीव द्वारा विचार किए गए" और "ईश्वर द्वारा विचार किए गए" यों दो प्रकार से भिन्नतया विचार किए गए हैं। आपश्री के इस कथन से यह ध्वनित होता है कि, आपश्री केवल जीव द्वारा विचारित पुरुषार्थों को ही अपुरुषार्थ बता रहे हैं, ईश्वर द्वारा विचारित पुरुषार्थों को नहीं। और ईश्वर ने जो पुरुषार्थ बताए हैं, वो भी पुरुषार्थ तो अवश्य हैं परन्तु मर्यादामार्गीयपुरुषार्थ हैं- यह जानना चाहिए। जबकि पुष्टिमार्ग में तो उन पुरुषार्थों की भी कोई अपेक्षा नहीं है। हि शब्द इस अर्थ की युक्तता बताने के लिए प्रयुक्त हुआ है। और वैसे भी पूर्णज्ञानवान-ईश्वर के द्वारा विचार किए गए पुरुषार्थों में और अपूर्णज्ञानवान-जीव द्वारा विचार किए गए पुरुषार्थों में समानता तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि ईश्वर द्वारा विचारित पुरुषार्थों का विषय भिन्न है और जीव द्वारा विचारित पुरुषार्थों का विषय भिन्न है, अर्थात् ईश्वर द्वारा विचारित पुरुषार्थ अलौकिक हैं और जीव द्वारा विचारित पुरुषार्थ लौकिक हैं ॥२॥

तदग्रे स्पष्टीकुर्वन्त्यलौकिकास्त्विति ।

अलौकिकास्तु वेदोक्ताः साध्यसाधनसंयुताः ।

लौकिका ऋषिभिः प्रोक्तास्तथैश्वरशिक्षया ॥३॥

वेदोक्ता ईश्वरविचारिता अलौकिका न लोकविषया इत्यर्थः । अन्येषामलौकिकत्वव्यावृत्त्यर्थं तुशब्दः । ननु वेदे यज्ञात्मको धर्मः' तस्य च "अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते"त्यादिभिः स्वर्गसाधकत्वमुच्यते । स च स्वर्गो लोक एवेति कथमलौकिकत्वमिति चेत्, सत्यम् न हि वेदे स्वर्गशब्देन लोक उच्यते । "यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदमि"ति लक्षणाप्रवेशात् । किन्त्वात्मसुखमेव तादृशम्, तच्चाऽलौकिकमिति नोक्तमनुपपन्नम् । एतन्निबन्धे विवृतमिति विस्तरेण ततोऽवगन्तव्यम् ।

इसी बात को आपश्री आगे अलौकिकास्तु इत्यादि शब्दों से स्पष्ट भी कर रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं- अलौकिकास्तु वेदोक्ता यानि ईश्वर द्वारा विचारित पुरुषार्थ अलौकिकपुरुषार्थ हैं, अर्थात् ये लोकविषयक नहीं हैं। वेदोक्त के अतिरिक्त अन्य पुरुषार्थ अलौकिक नहीं हैं- यह बताने के लिए तु शब्द का प्रयोग है। किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, वेद में धर्म को यज्ञरूप कहा गया है, और यज्ञ को "अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि वाक्यों के अनुसार स्वर्ग प्राप्त करने का साधक बताया गया है; और स्वर्ग तो एक लोक ही है, फिर वेदोक्तपुरुषार्थों को अलौकिक कैसे कहा जा सकता है ? यदि कोई ऐसी शंका करता हो तो एक घड़ी ठीक है, परन्तु, यह समझ लीजिए कि वेद में 'स्वर्ग' शब्द का अर्थ लोक नहीं है। और इसीलिए आचार्यचरणों द्वारा कहे "यन्न दुःखेन सम्भिन्नं(सर्व-5)" इस वाक्यानुसार स्वर्ग का लक्षण लोक के अर्थ में नहीं घटता। अपितु उक्त निबन्धवाक्य के अनुसार 'स्वर्ग' शब्द का अर्थ 'आत्मसुख' ही है, जो इस निबन्धकारिका में बताया गया है, और वैसा आत्मसुख तो अलौकिक ही है अतः वेदोक्तपुरुषार्थों को अलौकिक कहना अप्रामाणिक नहीं है। इस विषय पर निबन्ध में विस्तार से चर्चा की जा चुकी है अतः विस्तार से जानने के लिए वहीं देख लेना चाहिए।

नन्वेवमपि फलस्याऽलौकिकत्वमायाति । न तु स्वरूपतो यागादेस्तत्साधनानां वा तथात्वं वक्तुं युक्तम्, स्वकृतिसाध्यत्वादित्यत आहुः साध्यसाधनसंयुता इति । साध्या यागादयस्तत्साधनानि च तैः सहिता एवाऽलौकिका इत्यर्थः । “यज्ञो वै विष्णुरिति” श्रुतेः ससाधनस्य तस्य भगवद्रूपत्वात्तथोच्यत इति भावः । तदुक्तं निबन्धेऽपि “तत्साधनं च स हरिः प्रयाजादि सुगादि यदि”ति ।

परन्तु एक शंका यह होती है कि, भले ही आत्मसुख अलौकिक ही है तथापि अलौकिकता तो केवल वेदोक्तपुरुषार्थों से प्राप्त होने वाले फल में ही आ पायी, किन्तु, स्वरूपतः यज्ञ इत्यादि को अथवा यज्ञ के साधनों को अलौकिक कहना युक्त नहीं हो सकेगा, क्योंकि यज्ञ आदि तो अपने स्वयं के द्वारा किए गए साधनों से सिद्ध होते हैं इसलिए यज्ञादि साधनों को तो लौकिक ही मानना पड़ेगा !!! ऐसी शंका के समाधानस्वरूप आचार्यचरण वेदोक्तपुरुषार्थों को साध्यसाधनसंयुताः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ साध्य का अर्थ है- यज्ञ आदि; और यज्ञ अपने साधनों के सहित अलौकिक ही होता है, क्योंकि “यज्ञो वै विष्णुः (कृष्णयजुर्वेद/तै0सं0/6/2/9)” इस श्रुति के अनुसार यज्ञ को उसके साधनों सहित भगवद्रूप बताया गया है, अतः यज्ञ और यज्ञ के साधन दोनों भगवद्रूप होते होने के कारण आचार्यचरण इन्हें अलौकिक कह रहे हैं। यही बात निबन्ध में भी आचार्यचरणों ने “तत्साधनं च स (सर्व-3)” इस वाक्य द्वारा कही है।

अत एवाऽर्थस्यापि धर्मसाधनत्वेनाऽलौकिकत्वमिति ज्ञेयम् । तदसाधकस्य नाशहेतुत्वादपुरुषार्थतैव । अर्थस्य धर्मसाधनत्वं निबन्धे निरूपितम्, “धर्मो ह्यर्थेन साधितः” इति । तेन धर्मेणाऽर्थोऽर्थेन कामः कामेन मोक्ष इति क्रमोऽत्र नोरीकृतः । कामस्य तु दृष्टान्तत्वेन वैराग्यजनकत्वेन च मोक्षसाधकत्वात्तथात्वमिति विवेकः ।

अतएव 'अर्थ' भी चूँकि 'धर्म' का साधक होता है अतः अर्थ को भी अलौकिक समझना चाहिए। और यदि अर्थ धर्म का साधक नहीं बनता, तो वह नाश का ही हेतु होता है इसलिए इस प्रकारक अर्थप्राप्त करना पुरुषार्थों की गिनती में ही नहीं आयेगा। अर्थ को धर्मसाधक के रूप में आचार्यचरणों ने निबन्ध में “धर्मो ह्यर्थेन (सर्व-16)” इस वाक्य द्वारा कहा है। चूँकि आपश्री ने अर्थ को धर्म का साधक बताया है, अतः (1)धर्म से अर्थ प्राप्त होना, (2)अर्थ से कामना सिद्ध होनी और (3)कामनाओं की पूर्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त होना- यह क्रम आपश्री ने उक्त निबन्ध में स्वीकार नहीं किया है। काम तो चूँकि दृष्टान्त और वैराग्यजनक होने के कारण मोक्ष का साधक होता है (काम को 'दृष्टान्त' कहने का अर्थ है- देखा गया है अन्त होना जिसका, ऐसा होता है। अथवा काम को 'दृष्टान्त' कहने के द्वारा मोक्षसाधक कहा होने का एक अर्थ ये भी हो सकता है कि, श्रीभागवत 9 वें स्कन्ध के 19वें अध्याय में राजा ययाति के प्रसंग में यह बात आयी है कि, निरन्तर कामोपभोग के पश्चात् अंत में उन्हें वैराग्य हो आया, अतः राजा ययाति के लिए तो काम वैराग्यजनक सिद्ध हुआ जबकि अन्यो के लिए राजा ययाति का कामप्रसंग एक दृष्टान्त के रूप में वैराग्यजनक सिद्ध होता है-ऐसा अर्थ प्रतीत होता है। चूँकि कामसुख क्षणमात्र सुख तक ही सीमित रहता है अतः जब बारंबार उसकी क्षणभंगुरता का अनुभव होगा तभी उसके प्रति वैराग्य जाग्रत होगा, जो कि मोक्ष की नींव है इसलिए उसे वैराग्यजनक कहा गया-यह अर्थ है। इसीलिए काम को पुरुषार्थ कहा जाता है- यह विवेक है।

ननु यथा धर्मसाधनत्वेनाऽर्थस्य मोक्षसाधनत्वेन च कामस्य पुरुषार्थता, तथाऽऽत्मसुखसाधनत्वेन धर्मस्य तथात्वं न स्वतः । अतः को विशेषस्त्रयाणामिति चेद्, उच्यते । वेदे हि काण्डद्वयम् । तत्र पूर्वकाण्डे यज्ञात्मको धर्मः साक्षादात्मसुखसाधनत्वेन पुरुषार्थ इति स्तूयते । तथोत्तरकाण्डे साक्षान्मोक्षसाधनत्वेन ज्ञानमपि । तथा परम्परयैकत्र साधनमर्थोऽपरत्र कामः । एवं साक्षात्परम्पराभेदकृतो विशेषो धर्मस्योभाभ्याम् । कामस्य विषयसुखात्मकत्वमाश्रित्य तथा व्याख्यातम् । वस्तुतः पुरुषार्थद्वयमात्मसुखं मोक्षश्चेति निर्णयः । तथा च तत्त्वदीपे, “दुःखाभावः सुखं चैव पुरुषार्थद्वयं मतमि”ति । अतो मोक्षकामयोः साक्षात्पुरुषार्थता । तत्साधनत्वेन धर्मस्य । धर्मसाधनत्वेनाऽर्थस्य च परम्परया पुरुषार्थतेति सिद्धम् । अत्र कामशब्देनाऽऽत्मसुखमुच्यते । विषयसम्बन्धिनः साक्षात्पुरुषार्थतानुपपत्तेः ।

किन्तु किसी को उलझन यह होती है कि, जिस प्रकार धर्म का साधक होने के कारण 'अर्थ' को पुरुषार्थ माना गया और जिस प्रकार मोक्ष का साधक होने के कारण 'काम' को पुरुषार्थ माना गया, उसी प्रकार आत्मसुख का साधन होने के कारण 'धर्म' को भी पुरुषार्थ माना तो गया, परन्तु ये सभी किसी न किसी के साधक होने के कारण पुरुषार्थ होने सिद्ध हुए, स्वतः नहीं; अतः प्रश्न यह है कि इन तीनों को किस प्रकार से पुरुषार्थ माना जा सकता है, इनकी अपनी खुद की विशेषता क्या हुई ? यदि ऐसी शंका होती हो, तो आगे आपश्री इसका समाधान कह रहे हैं। सर्वप्रथम यह समझना चाहिए कि, वेद में दो काण्ड हैं। उसमें पूर्वकाण्ड में (1)यज्ञात्मकधर्म आत्मसुख का साक्षात् साधन होने के कारण यज्ञात्मकधर्म की पुरुषार्थरूप से स्तुति की गयी है। उसी प्रकार उत्तरकाण्ड में (2)मोक्ष का साक्षात् साधन होने के कारण 'ज्ञान' को भी पुरुषार्थ कहा गया है। अब परम्परा से (1)वाले स्थल 'यज्ञात्मकधर्म' में साधन हुआ 'अर्थ'; और (2)वाले स्थल 'मोक्षपुरुषार्थ' में साधन हुआ काम। जैसा कि ऊपर कहा गया कि, चूँकि काम वैराग्यजनक होता है और संसार की व्यर्थता का ज्ञान हो जाने पर और वैराग्यज्ञान उत्पन्न हो जाने पर ही मोक्ष का मार्ग खुलता है अतः इस दृष्टिकोण से यहाँ 'काम' को मोक्षपुरुषार्थ का साधन कहा गया। इस प्रकार 'अर्थ' और 'काम' चूँकि परम्परा से पुरुषार्थ होने सिद्ध होते हैं और धर्म साक्षात् पुरुषार्थ होना सिद्ध होता है अतः इन दोनों के स्वरूप से धर्मपुरुषार्थ का स्वरूप अलग है। हमने ऊपर जो 'काम' को वैराग्यजनक बताया, वह व्याख्या हमने विषयसुख वाले काम के अर्थ में की है, जबकि इस ग्रन्थ में 'काम' शब्द का अर्थ आत्मसुख है। वस्तुतः देखा जाय तो पुरुषार्थ दो ही माने जा सकते हैं, एक 'आत्मसुख' और दूसरा 'मोक्ष'-यह निर्णय है। यही बात तत्त्वदीप में आचार्यचरणों ने "दुःखाभावः सुखं चैव पुरुषार्थद्वयं(सर्व-16)" इस कारिका द्वारा कही है। दुःखाभाव होने का अर्थ है-'आत्मसुख' एवं सुख का अर्थ है-'मोक्ष'। अतः 'मोक्ष' और 'काम' साक्षात् पुरुषार्थ हैं एवं आत्मसुख का साधन होने के नाते धर्म की पुरुषार्थता है एवं धर्म का साधक होने के नाते अर्थ की परम्परारूप से पुरुषार्थता है- यह सिद्ध होता है। श्रीदेवकीनन्दनजी ने समाधान यह किया कि, धर्मादि चार पुरुषार्थ भले ही साक्षात् रूप से पुरुषार्थ होने सिद्ध होते हों या परम्परा से, दोनों ही परिस्थितियों में वे पुरुषार्थ कहे जा सकेंगे। यहाँ इस ग्रन्थ में 'काम' पुरुषार्थ का अर्थ है- आत्मसुख, क्योंकि विषयसम्बन्धी 'काम' को पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता।

जीवविचारितानालौकिका इति । ऋषिभिः प्रोक्ता लौकिका इत्यर्थः, जीवबुद्धिविषयत्वात् । ननु तेऽपि वेदार्थविदः कथमीश्वरविचारादन्यथा कथयन्ति । किञ्च । तदुक्तस्याऽपि वेद एव मूलं भवति । अन्यथाऽप्रामाणिकत्वप्रसङ्गादित्याशङ्क्याऽऽहुस्तथैवेश्वरशिक्षयेति । यथा ते कथयन्ति तथैवेश्वरस्य नियामकस्य प्रेरणालक्षणा शिक्षा, तथा तथेत्यर्थः । एवकारेण प्रकारान्तरेण प्रेरणं कथनं वा व्यावर्त्यते । शिक्षाप्रयोजनं तु "त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारये"त्यत्र निरूपितम् । वस्तुतो वेदतात्पर्यपरिचयो ज्ञानवतामपि दुर्लभः । "तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरय" इति वचनात् । अतस्तेषामनीश्वरविचारितत्वादनङ्गीकारः सूचितः ॥३॥

अब जीव द्वारा विचारित पुरुषार्थों को आपश्री लौकिकाः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। ऋषियों द्वारा विचार किए गए पुरुषार्थों को आपश्री लौकिकाः कह रहे हैं, क्योंकि उनका जीवबुद्धि से विचार किया गया है। किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, ऋषि भी तो अंततोगत्वा वेदार्थ का ज्ञान रखते थे, फिर वे ईश्वरविचार से भिन्नतया पुरुषार्थों को क्यों कहेंगे ? और दूसरी बात यह भी है, कि उन्होंने यदि पुरुषार्थों के बारे में बताया है, तो उनके कथन का मूल भी तो वेद ही है ! यदि उनके बताए में मूलस्त्रोत वेद न होता, तो उनके कहे में अप्रामाणिकता की शंका हो जाती !! इसलिए उनके बताए पुरुषार्थों को लौकिकपुरुषार्थ कैसे कहा जा सकता है जिनका मूल ही वेद है ? यदि ऐसी शंका होती हो, तो आचार्यचरण इसका समाधान तथैवेश्वरशिक्षया इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, ऋषियों ने जिस प्रकार से पुरुषार्थों पर विचार करके बताया, वो उनके नियामक ईश्वर ने उन्हें जिस प्रकार से प्रेरणा दी, उसी प्रकार से कहा- यह अर्थ है। तथैवेश्वरशिक्षया में प्रयुक्त 'एव' शब्द से यह ज्ञात होता है कि, ईश्वर ने उन्हें जिस प्रकार से प्रेरणा दी उन्होंने उसी प्रकार से कहा, अन्य किसी प्रकार से या अन्य किसी की प्रेरणा से नहीं। अब ईश्वर ने उन्हें लौकिकप्रकार से पुरुषार्थों का वर्णन करने की प्रेरणा क्यों दी, इसका कारण "हे रुद्र ! मोहशास्त्र बनाईए ताकि लोग भ्रमित हो जाएँ(पद्मपुराण/30खं0/6/71/106,107)" इस वाक्य में निरूपित किया गया है। चलो ये बात और है कि, ईश्वर ने उन्हें ऐसी प्रेरणा दी, परन्तु वास्तविकता तो यह है कि

वेदतात्पर्य का परिचय होना तो ज्ञानवान के लिए भी दुर्लभ है, इसलिए ऋषियों के लिए भी वेद के वास्तविक तात्पर्य को जानना कठिन था, जैसा कि "परम सत्यरूप परमात्मा के संदर्भ में बड़े-बड़े विद्वान भी भ्रमित हो जाते हैं(श्री0भा-1/1/1)" इस वाक्य में कहा भी गया है अतः ऋषियों द्वारा कहे गए पुरुषार्थ चूँकि ईश्वर द्वारा विचारित नहीं हैं, इसलिए आचार्यचरण उन्हें स्वीकार नहीं कर रहे हैं ॥3॥

एवमीश्वरजीवविचारभेदेन धर्मादिचतुर्णां द्वैविध्यमुक्त्वा विस्तरेण लौकिकान् वक्तुमुपक्रमन्ते लौकिकानिति ।

लौकिकांस्तु प्रवक्ष्यामि वेदादाद्या यतः स्थिताः ।

धर्मशास्त्राणि नीतिश्च कामशास्त्राणि च क्रमात् ॥४॥

त्रिवर्गसाधकानीति न तन्निर्णय उच्यते ।

मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि लौकिके परतः स्वतः ॥५॥

द्विधा द्वे द्वे स्वतस्तत्र सांख्ययोगौ प्रकीर्तितौ ।

त्यागात्यागविभागेन सांख्ये त्यागः प्रकीर्तितः ॥६॥

लौकिकान् प्रकर्षेण वक्ष्यामीत्यर्थः । तुशब्दस्त्वलौकिककथनापेक्षां व्यावर्त्तयति । तत्रोपपत्तिमाहुर्वेदादाद्या इति । यतो यस्माद्धेतोराद्या ईश्वरविचारितास्ते वेदाद्वेदस्य विद्यमानत्वात्तत एव स्थिताः प्रवर्त्तमानाः सन्त्यतस्तान्विहाय लौकिकाः कथ्यन्त इति भावः । किञ्च, स्थिता इति पदेन गतिनिवृत्तिः सूच्यते । धात्वर्थस्य तथात्वात् । तथाचाऽधुना प्रवृत्त्यभावेन तत्कथनप्रयोजनाभाव उक्तः ।

इस प्रकार से जीव द्वारा एवं ईश्वर द्वारा विचारित के भेद से धर्म आदि चारों पुरुषार्थों की द्विविधता कह कर अब विस्तारपूर्वक लौकिकपुरुषार्थों के विषय में कहने का उपक्रम आचार्यचरण लौकिकान् इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। प्रथम पंक्ति का अर्थ है-अब लौकिकपुरुषार्थों को विशेषरूप से कहेंगे। तु शब्द से ज्ञात होता है कि, अब यहाँ से आपश्री ने अलौकिकपुरुषार्थों की चर्चा समाप्त कर दी है। इसका कारण आपश्री वेदादाद्या इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यतो यानि चूँकि आद्याः अर्थात् ईश्वरविचारित तो वेदात् यानि वेद के विद्यमान होने के कारण वेद द्वारा ही प्रवृत्त हैं अतः(चूँकि वे तो वेद में कहे ही जा चुके हैं अतः)आपश्री उन्हें छोड़कर लौकिकपुरुषार्थों के विषय में कह रहे हैं- यह भाव है। और, अलौकिकपुरुषार्थ के संग में स्थिताः पद जोड़कर आचार्यचरणों ने गति रुक जानी सूचित की है, क्योंकि धातु का अर्थ यही है; इसका तात्पर्य यह हुआ कि, वर्तमान में चूँकि अलौकिकपुरुषार्थ गतिशील नहीं रह गए हैं और अब इन अलौकिकपुरुषार्थों के अनुसार पुरुषार्थों में कोई प्रवृत्त भी नहीं होता वर्तमान में तो केवल ऋषियों द्वारा बनाए गए पुरुषार्थों की ओर ही लोग प्रवृत्त होते हैं अतः अलौकिकपुरुषार्थ तो वेद में कहने मात्र के लिए रह गए हैं, इसीलिए आपश्री के लिए इनके विषय में बताने का कोई प्रयोजन शेष नहीं रहता- यह कह रहे हैं।

अतो लौकिकानामेव वक्तव्यत्वात्तन्मध्ये त्रिवर्गनिर्णयस्याऽनावश्यकत्वमाहुर्धर्मशास्त्राणीति । धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि । नीतिः नीतिप्रतिपादकमर्थशास्त्रम् । कामशास्त्राणि वात्स्यायनादीनि । क्रमात्प्रत्येकं त्रिवर्गस्य धर्मादित्रितयस्य साधकानि सन्ति । चकारद्वयेन तत्तन्निर्णयग्रन्था अपि सङ्गृह्यन्ते । इति हेतोस्तन्निर्णयोऽत्र नोच्यते प्रयोजनाभावादिति भावः ।

अतः लौकिकपुरुषार्थों के विषय में ही कहना शेष रह जाता है, और इनमें भी त्रिवर्ग(धर्म-अर्थ-काम)के विषय में कहने को अनावश्यक बताने के लिए एवं आचार्यचरणों को इस ग्रन्थ में केवल लौकिकमोक्ष का स्वरूप बताना अभिप्रेत है- यह कहने के लिए आपश्री धर्मशास्त्राणि इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इनमें धर्मशास्त्र का अर्थ है- मनु, याज्ञवल्क्य आदि के द्वारा कहे गए शास्त्र; नीति का अर्थ है- नीति का प्रतिपादन करने वाले अर्थशास्त्र और कामशास्त्राणि का अर्थ है- वात्स्यायन आदि द्वारा रचित शास्त्र। ये तीनों शास्त्र क्रमात् यानि क्रमशः त्रिवर्ग के यानि धर्म-अर्थ-काम इन तीनों के साधक हैं।

आपश्री ने दो बार च शब्द कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि, इन शास्त्रों के संग-संग इन तीनों का निर्णय करने वाले ग्रन्थों के लिए भी आपश्री कह रहे हैं। इति यानि चूँकि इन तीनों पुरुषार्थों के विषय में उपर्युक्त शास्त्रों में कहा जा ही चुका है, अतः इन तीनों के विषय में आपश्री यहाँ नहीं कह रहे हैं, क्योंकि जब वे उक्त शास्त्रों में कहे ही जा चुके हैं, तो यहाँ उन्हें पुनः कहने का कोई प्रयोजन नहीं है- यह भाव है।

मोक्षनिर्णयस्याऽऽवश्यकत्वायाऽऽहुर्मोक्षे चत्वारि शास्त्राणीति । लौकिके जीवविचारिते मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि साधकानि सन्तीत्यर्थः । यद्यपि धर्मादिशास्त्राणामपि बहुत्वं, तथापि देशाद्याचारभेदेन विरोधाभावात्तत्समाहितिर्भवति । मोक्षस्तु पुरुषार्थरूप इति 'तस्य चतुर्धा कथने भ्रमो भवति, स न युक्त इति तन्निरासाय निर्णयित इति भावः ।

हाँ, मोक्ष का निर्णय करने की आवश्यकता है, अतः मोक्ष के विषय में आपश्री मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि (मोक्षप्राप्ति के लिए चार शास्त्र हैं) इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यद्यपि ऐसा कहें कि मोक्ष चार प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है- तो किसी को मोक्ष का स्वरूप समझने में भ्रम होता है परन्तु मोक्ष के साथ-साथ धर्म-अर्थ-काम के भी अनेक शास्त्र हैं इसलिए असमंजसता तो धर्म-अर्थ-काम के संदर्भ में भी होती है कि, इनके इतने प्रकार क्यों और कैसे हैं इसीलिए इन सभी का स्पष्टीकरण करके यद्यपि इनके विषय में भी निर्णय बताना आचार्यचरणों के लिए आवश्यक था, तथापि देश-काल-आचार इत्यादि के दृष्टिकोण से उन उन विरोधों की फिर समाहिती भी हो जाती है, यानि विरोधाभास की समाहिती इस प्रकार कि देश-काल की परिस्थिति के अनुसार धर्मवाक्य लचीले भी हो जाते हैं। अर्थात् एक ही विषय के संदर्भ में भिन्न-भिन्न धर्मवाक्य प्राप्त होने के कारण विरोधाभास जैसा भले लगता हो, परन्तु, भिन्न भिन्न देश-काल की परिस्थिति के अनुसार भिन्न भिन्न धर्माचरण का भी विधान प्राप्त होता है और इस प्रकार विरोधाभास का समाधान कर लिया जाता है; परन्तु मोक्ष तो सभी के लिए एक समान एवं एक जैसा ही होना चाहिए इसलिए चूँकि मोक्षपुरुषार्थ को चार प्रकार का कहने से व्यक्ति को भ्रम होता है, और भ्रम होना ठीक नहीं है, इसलिए मोक्ष के संदर्भ में होने वाले भ्रम का निराकरण करने के लिए आचार्यचरण मोक्ष के विषय में बता रहे हैं।

तस्य चातुर्विध्यव्यवस्थामाहुः परतः स्वत इति । परतः स्वतश्चेति द्विधा द्विप्रकारके द्वे द्वे शास्त्रे स्त इत्यर्थः । अत्राऽयमर्थः । शास्त्रद्वयं स्वतो मोक्षसाधकम् । शास्त्रद्वयं परतश्चेति । यत्र शास्त्रोक्तरीत्या साधनाचरणे कृते जीवः कृतार्थो भवति तत्स्वतःशास्त्रमुच्यते । यत्र तदुक्तरीत्या साधनेऽकृतेऽपि कस्यचित्प्रसादात्कृतार्थो भवति तत्परतः शास्त्रमुच्यते । उभयोर्द्विविध्याच्चत्वारि तानि भवन्ति ।

अब मोक्ष चार प्रकार का किस दृष्टिकोण से कहा जाता है, उसकी व्यवस्था आपश्री परतः स्वतः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि- मोक्ष दिलाने/बताने वाले 'परतः' और 'स्वतः' की द्विप्रकारक कोटि में दो-दो प्रकार के शास्त्र हैं। इसका अर्थ यह है कि, दो शास्त्र स्वतःमोक्षसाधक हैं और दो शास्त्र परतःमोक्षसाधक हैं अतः कुल चार शास्त्र हुए। जहाँ शास्त्रोक्तरीति से साधनाचरण करने पर जीव कृतार्थ होता है, उसे 'स्वतःशास्त्र' कहा जाता है। और जहाँ शास्त्रोक्तरीति से साधन न करने पर भी किसी देवता की कृपा से कृतार्थ हुआ जाता है, उसे 'परतःशास्त्र' कहते हैं। स्वतःमोक्षशास्त्र एवं परतःमोक्षशास्त्र भी दो-दो प्रकार के होने के कारण कुलमिला कर मोक्ष दिलाने/बताने वाले चार शास्त्र सिद्ध होते हैं।

यद्वा, परतः स्वतश्चेति द्विप्रकारके लौकिके मोक्षे द्वे द्वे ते स्त इति । अस्मिन्नर्थेऽयं भावः । लौकिको मोक्षो हि स्वरूपतो द्विविधः । स्वाश्रयः पराश्रयश्चेति । यत्राऽविद्यानिवृत्तौ सत्यामद्वैतं ब्रह्म भासते, तत्र जीवब्रह्मणोरभेदात्प्रतिबिम्बन्यायेन जीवः स्वाश्रये ब्रह्मणि लीयते । स स्वाश्रयो मोक्ष इत्युच्यते । यत्र पुनरविद्यानिवृत्तौ शुद्धो जीवः परस्मिन्ब्रह्मणि लीयते तत्राऽविद्यानिवृत्तावपि भेदस्वीकारात्पराश्रय इत्युच्यते । तयोरपि प्रतिपादके द्वे द्वे ते स्त इति मोक्षे चातुर्विध्यम् ।

अथवा, यों अर्थ कर लें कि, 'स्वतःमोक्ष' और 'परतःमोक्ष' ये दोनों ही लौकिकमोक्ष के प्रकार हैं और इन दोनों प्रकार के

मोक्षों के भी दो-दो शास्त्र हैं। ऐसा अर्थ करने में भाव यह है कि- लौकिकमोक्ष स्वरूपतः दो प्रकार का होता है- 'स्वाश्रय' और 'पराश्रय'। जहाँ अविद्या के निवृत्त हो जाने के पश्चात् ज्ञानी को अद्वैतब्रह्म भासित होता है, वहाँ जीव और ब्रह्म में अभेद होकर प्रतिबिम्बन्याय से वह अपने आश्रय ब्रह्म में लीन हो जाता है- ऐसा मोक्ष 'स्वाश्रयमोक्ष' कहलाता है। और जहाँ पर अविद्या की निवृत्ति होकर शुद्ध बना जीव परब्रह्म में लीन हो जाता है और अविद्या की निवृत्ति होने पर भी जीव और ब्रह्म में भेद स्वीकार किया गया है, तो इस प्रकारक मोक्ष 'पराश्रयमोक्ष' कहलाता है। इन दोनों ही लौकिकमोक्षों का प्रतिपादन करने वाले दो दो शास्त्र हैं अतः लौकिकमोक्ष कुलमिलाकर चार प्रकार का होता है।

तत्र प्रथमं स्वतस्ते आहुः स्वतस्तत्रेति । तत्र तेषां मध्ये स्वतः शास्त्रभूतौ सांख्ययोगौ प्रकीर्तितौ प्रकर्षेण कथितावित्यर्थः । यद्यपि “यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यत” इति वाक्यादुभयोरेकमेव फलमिति न भेदो वक्तुमुचितस्तथापि जीवविचारेणोच्यमानत्वात्तदनुसारेणोभयोर्भेदं व्यवस्थापयन्ति त्यागात्यागविभागेनेति । साङ्ख्ये त्यागोऽपरत्राऽत्याग इति विभागेन भेद इत्यर्थः । तदेव स्पष्टयन्तिसाङ्ख्ये त्याग इति । साङ्ख्ये मुक्तिसाधनत्वेन त्यागः प्रकीर्तित इत्यर्थः । साङ्ख्ये हि नित्यानित्यवस्तुविवेकः प्रतिपाद्यते । तस्मिन्सम्पन्ने वैराग्योत्पत्तौ ततः सर्वपरित्यागेन मुक्तो भवतीति भावः ॥४॥५॥६॥

इनमें से पहले स्वतःमोक्ष के दो भेद बताने के लिए आपश्री स्वतस्तत्र इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इन चारों प्रकार के मोक्ष में स्वतःमोक्ष के अंतर्गत 'सांख्य' और 'योग' दो शास्त्र कहे गए हैं। यद्यपि "यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं(भ0गी-5/5)" इस वाक्यानुसार सांख्य और योग दोनों से एक ही प्रकार का फल प्राप्त होता है इसलिए दोनों में भेद कहना उचित नहीं है, तथापि, ये दोनों जीवों(ऋषियों) द्वारा कहे गए हैं अतः इसके अनुसार दोनों का भेद आपश्री त्यागात्यागविभागेन इत्यादि शब्दों से व्यवस्थापित कर रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि- सांख्य में मोक्ष के लिए त्याग करना बताया गया है और योग में त्याग करना नहीं बताया गया है- इस प्रकार के विभाग द्वारा 'सांख्य' और 'योग' दोनों में भेद है। उसी बात को आपश्री सांख्ये त्यागः इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। सांख्य में मुक्ति के साधनरूप में त्याग करना बताया गया है, यानि मुक्ति प्राप्त करने के लिए सांख्य में साधन के रूप में त्याग करना बताया गया है। सांख्य में नित्य-अनित्य वस्तुओं का विवेक रखना बताया गया है; और जब ज्ञानी को नित्य-अनित्य वस्तुओं का विवेक हो जाता है, तो उसमें वैराग्य उत्पन्न होता है और उसके बाद वह सर्वत्याग करके मुक्त हो जाता है- यह सांख्य में त्याग करने का भाव है ॥४॥५॥६॥

ननु सङ्घातस्य विद्यमानत्वात्कथं त्यागमात्रेण मुक्तिरित्याशङ्कायां तन्मुक्तिप्रकारमाहुरहन्ताममतानाश इति ।

अहन्ताममतानाशे सर्वथा निरहङ्कृतौ ।

स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते ॥७॥

तदर्थं प्रक्रिया काचित् पुराणेऽपि निरूपिता ।

ऋषिभिर्बहुधा प्रोक्ता फलमेकमबाह्यतः ॥८॥

अहन्ताममतात्मकः संसारः, तत्राऽविद्यया जीवो बद्धस्तिष्ठति । साङ्ख्ये चाऽऽत्मानात्मविवेकेनाऽविद्यानिवृत्तिर्भवति । तस्यां निवृत्तायां तत्कार्यरूपः संसारोऽपि नश्यति । ततः सङ्घाताद्भिन्नतया आत्मज्ञानमुत्पद्यते । एवमपि सति यावदहङ्कारनिवृत्तिर्न भवति तावदपि न सर्वात्मना मुक्तिरित्याभिप्रायेणाऽऽहुः सर्वथा निरहङ्कृताविति । सर्वथा सर्वप्रकारेण “नैव किञ्चित्करोमी”त्यहङ्काराभावे सतीत्यर्थः । ततो 'मुक्तिस्वरूपमाहुः स्वरूपस्थ इति । यदैव जीवः सर्व परित्यज्य स्वरूपस्थः स्वात्मज्ञानैकनिष्ठो भवति तदा तदवस्थापन्न एव स कृतार्थो मुक्त इति निगद्यते कथ्यत इत्यर्थः ।

किन्तु सांख्यमत के संदर्भ में शंका यह होती है कि, शरीर के विद्यमान रहते हुए केवल अन्य पदार्थों का त्याग कर देने मात्र से मुक्ति हो जानी कैसे संभव है, शरीर का भी त्याग करना तो आवश्यक है ही, तो आचार्यचरण इसका समाधान करते हुए सांख्य के प्रकार से होने वाली मुक्ति के विषय में अहन्ताममतानाशे इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इस शंका के प्रत्युत्तर में श्रीदेवकीनन्दनचरण यह समाधान देंगे कि, सांख्यमतानुसार शरीर/देह में से अहन्ता-ममता दूर हो

जाने का ही अर्थ शरीर का त्याग करना है। यह संसार अहन्ताममतात्मक है, और इस संसार में जीव अविद्या से बँधा हुआ रहता है। सांख्यमतानुसार आत्मा(पुरुष)-अनात्मा(प्रकृति)का विवेक हो जाने पर अविद्या दूर होती है। अविद्या दूर हो जाने पर अविद्या द्वारा बनाया हुआ अहन्ताममतात्मक-संसार भी नष्ट हो जाता है। संसार के नष्ट हो जाने पर ज्ञानी में खुद को संघात(शरीर)से भिन्नतया देखने का आत्मज्ञान पैदा होता है। किन्तु आत्मज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भी जब तक उसके अहंकार की निवृत्ति नहीं होती, तब तक सभी प्रकार से मुक्ति भी नहीं होती- इस बात को कहने के अभिप्राय से आचार्यचरण सर्वथा निरहंकृतौ इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यानि "नैव किञ्चित्करोमि(भ0गी-5/8)" इस वाक्यानुसार सर्वथा सर्वप्रकारेण अहंकार दूर हो जाने के बाद जीव कृतार्थ/मुक्त होता है- यह अर्थ है। अहंकार दूर हो जाने के पश्चात् सांख्य में मुक्ति प्राप्त हो जाने का स्वरूप आपश्री स्वरूपस्थ इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- जब जीव सभी कुछ परित्याग करके स्वरूपस्थ होता है, यानि अपने आत्मज्ञान में निष्ठ हो जाता है(जब उसने आत्मा का मूलस्वरूप समझ लिया होता है), तब ऐसी अवस्था पर पहुँचने पर ही वह कृतार्थ/मुक्त हुआ कहा जाता है, तात्पर्य यह कि सांख्य में ऐसी परिस्थिति पर पहुँचने का नाम ही मोक्षप्राप्त होना कहा जाता है, इसमें शरीर नष्ट होने की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि शरीर के रहते ही उसे सांख्य का मूलतत्त्व समझ में आ चुका होता है। मूलतत्त्व की बात समझ में आ जाने पर और मुक्ति का अनुभव कर लेने के पश्चात् देह-रहे या न रहे इससे कोई अंतर नहीं पड़ता- यह सांख्यमत की मान्यता है।

वस्तुतस्तु ब्रह्मलाभस्य मोक्षपदार्थत्वेन तदभावात् मुक्त इति भावः, पुनर्जन्मावश्यम्भावाच्च । तदुक्तं दशमस्कन्धे, “आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृत्युष्मदङ्गय” इति । तथा च तत्त्वदीपविवृतौ, “जन्मान्तरे ज्ञानी ज्ञानी सन्नृत्पद्यत” इति ॥७॥

ये तो रही सांख्य की बात, परन्तु, वस्तुतः तो वेद के अनुसार ब्रह्मलाभ को ही मोक्ष प्राप्त होना कहा जाता है और ऐसे सांख्यवादी को चूँकि ब्रह्मलाभ हुआ नहीं होता अतः उसे वास्तव में तो मुक्त हुआ कहा ही नहीं जा सकता, और इसीलिए उसे पुनर्जन्म लेना भी अवश्यभावी हो जाता है। यही बात दशमस्कन्ध में "आरुह्य कृच्छ्रेण(श्री0भा-10/2/32)" इस वाक्य द्वारा और तत्त्वदीप की विवृति में आचार्यचरणों ने "सांख्यमतानुसार तो अपने शरीर से भिन्न मानते हुए आत्मा का ज्ञान होना एवं अहंकार नहीं होना- यह दो बातें जीवनपर्यंत करता रहे, तब दूसरे जन्म में जाकर वह ज्ञानी बनता है और उसकी अविद्या दूर होती है(सर्व/205)" इस वाक्य द्वारा कही गयी है, इसलिए आचार्यचरणों को सांख्यमत अभीष्ट नहीं है ॥7॥

नन्वेवं सति जीवविचारितस्य साङ्ख्यस्य कथं प्रामाण्यमित्यपेक्षायामाहुस्तदर्थमिति । तदर्थमुक्तरीत्या मोक्षार्थं काचित्प्रक्रिया पुराणेऽपि निरूपिता कथितेत्यर्थः । तेन पुराणमूलकत्वात्प्रामाण्यं तस्येति भावः । ननु “पुराणं हृदयं स्मृतमि”ति वाक्यात्तन्मूलकस्य कथं जीवविचारितत्वमित्यत आहुः, ऋषिभिरिति । ऋषिभिः सा प्रक्रिया बहुधा बहुभिः प्रकारैर्भिन्ना प्रोक्ता स्वविचारादतस्तथेत्यभिप्रायः । तत्र हेतुः पूर्वमुपपादितः, “तथैवेश्वरशिक्षये”ति ।

यदि कोई ये शंका करता हो कि, यदि सांख्य में उपरोक्त वेद में बताए प्रकार के अनुसार मुक्ति होनी नहीं मानी गयी है, तो फिर जीवविचारितसांख्य की प्रामाणिकता भी कैसे मानी जा सकेगी !! यानि जब सांख्य वेद में कही बात को नहीं मानता तो सांख्य को प्रामाणिक कैसे माना जा सकता है- यह शंका है। यह शंका होने पर आचार्यचरण इसके विषय में तदर्थ इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री आज्ञा करते हैं- सांख्य में बतायी गयी रीति अनुसार मोक्षप्राप्ति के लिए कोई प्रक्रिया पुराण में भी निरूपित की गयी है, इसलिए पुराणमूलक होने के नाते सांख्य को प्रामाणिक माना जाता है- यह भाव है। किन्तु तब शंका यह उठ खड़ी होगी कि, यदि सांख्यमत पुराणमूलक ही है, तो फिर "श्रुति और स्मृति धर्म के दो नेत्र हैं और पुराण हृदय है" इस वाक्यानुसार पुराणमूलक सांख्य को जीवविचारित कैसे माना जा सकता है ? अर्थात् यदि सांख्यमत मूलतः पुराणों का ही आधार लेकर कहा गया है और पुराण भी यदि धर्म के हृदय कहे गए हैं, तो फिर सांख्य को जीवविचारित क्यों कहा जा रहा है- यह शंका है। तो आचार्यचरण इसका समाधान ऋषिभिः इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह कि ऋषियों ने वह प्रक्रिया अनेक प्रकारों द्वारा अपने विचारों के अनुसार भिन्नरूप से कही है, अतः आपश्री इन्हें जीवविचारित कह रहे हैं और ऋषियों द्वारा अपनी बुद्धि के अनुसार अनेक प्रकारों से कहने का हेतु तो आपश्री

पूर्व में "तथैवेश्वरशिक्षया(3)" इत्यादि शब्दों द्वारा कह ही चुके हैं।
तर्हि साधनप्रकारभेदात्फलं भिन्नं भविष्यतीत्याशङ्क्य तथा नेत्याहुः फलमेकमिति । पुराणोक्तस्य साङ्ख्यस्य फलद्वयम् । प्रथममात्मदर्शनमेकम् । ततो ज्ञानद्वारा मोक्षो द्वितीयम् । जीवविचारितस्य तस्याऽऽत्मदर्शनमेकमेव फलं न द्वितीयमित्यर्थः । तत्रापि विशेषमाहुरबाह्यत इति । बाह्यो बहिर्मुखो निरीश्वरो विकर्मपरिपोषितश्च साङ्ख्यः । तदतिरिक्तात्पुराणमूलकात्साङ्ख्यादुक्तं फलं, न तु बाह्यादिति भावः । प्रत्युत तादृशान्नरकः, वेदविरोधित्वात् । तदुक्तं तत्त्वदीपे, "योगसाङ्ख्ये धर्महीने विमार्गपरिपोषिते, नरकायैव भवत" इति ॥८॥

तब फिर प्रश्न यह होता है कि, यदि ऐसा ही है कि अलग-अलग ऋषियों ने सांख्यमत को अपने-अपने विचारों द्वारा कहा है, तो एक ही सांख्य के लिए उन-उन के द्वारा बताए गए साधन भी एक दूसरे से अलग-अलग ही होंगे और उनसे मिलने वाला फल भी फिर अलग-अलग ही होना चाहिए !!! ऐसी आशंका हो, तो आचार्यचरण नकारते हुए फलमेकं इत्यादि शब्दों द्वारा कह रहे हैं। इससे आपश्री को यह बताना है कि, पुराणों में कहे सांख्य से दो फल प्राप्त होते हैं, एक आत्मदर्शन(अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जान लेना)। फिर आत्मदर्शन होने के पश्चात् ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त होना दूसरा। किन्तु जीवविचारित प्रत्येक सांख्य से एक ही फल यानि आत्मदर्शनरूप फल ही प्राप्त होता है, दूसरा फल यानि मोक्ष प्राप्त नहीं होता- यह अर्थ है। इसमें भी आपश्री सांख्यमत के लिए विशेषरूप से अबाह्यतः कह रहे हैं, अबाह्यतः अर्थात् ईश्वरवादी सांख्य से ही पहला वाला फल प्राप्त होगा पहला फल यानि आत्मदर्शनरूप फल भी यदि प्राप्त होगा तो अबाह्यतः/ईश्वरवादी सांख्य से ही प्राप्त होगा, बाह्यसांख्य/निरीश्वरवादी सांख्य से नहीं। बाह्यसांख्य का अर्थ है- बहिर्मुख, निरीश्वरवादी और विपरीत कर्मों को बताने वाला सांख्य; ऐसे निरीश्वरवादी सांख्य से भिन्न जो पुराणमूलकसांख्य है, उसके द्वारा ऊपर बताया आत्मदर्शनरूपी फल प्राप्त होगा, बाह्यसांख्य से नहीं- यह भाव है। बाह्यसांख्य से तो उल्टे नरक मिलेगा, क्योंकि ऐसा सांख्यमत वेदविरोधी होता है। यही बात तत्त्वदीप में भी "योगसांख्ये धर्महीने(सर्व-207)" इस कारिका द्वारा आचार्यचरणों ने कही है ॥८॥

अत्यागे योगमार्गो हि त्यागोऽपि मनसैव हि ।

यमादयस्तु कर्तव्याः सिद्धे योगे कृतार्थता ॥९॥

एवं स्वतःशास्त्रमेकमुक्त्वा द्वितीयमाहुरत्यागे योगमार्ग इति । त्यागाभावे योगमार्गो योगप्रतिपादकं शास्त्रं मोक्षप्रतिपादकमित्यर्थः । ननु त्यागव्यतिरेकेण कथं योगः सिद्ध्येदित्याशङ्क्याऽऽहुस्त्यागोऽपीति । न हि सर्वात्मना त्यागो निषिध्यते । मनसा तु सर्वं त्यक्तव्यमेव । अन्यथा योगो न सिद्ध्येदिति । मनसा सर्वपरित्यागे सम्पन्ने बहिस्त्यागो नापेक्षित इत्येवकारेण तद्व्यवच्छेद उक्तः । युक्तोऽयमर्थ इति हिशब्द आह ।

इस प्रकार से स्वतःमोक्ष बताने वाला एक शास्त्र कहकर अब आचार्यचरण स्वतःमोक्ष के ही अंतर्गत आनेवाला दूसरा शास्त्र अत्यागे योगमार्गः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। योगमार्ग यानि योग का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र त्याग के बिना भी मोक्ष प्राप्त कराने वाला शास्त्र है- यह अर्थ है, यानि जो त्याग नहीं कर सकते उन्हें मोक्षप्राप्त कराने वाला योगमार्ग है। किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, त्याग किए बिना योग कैसे सिद्ध हो जायेगा, तो आचार्यचरण त्यागोपि मनसैव हि इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, योगमार्ग में पूर्णरूप से त्याग का निषेध नहीं है, अपितु मन से तो सभी पदार्थ त्याग ही दिए जाते हैं। अन्यथा तो योग सिद्ध ही नहीं होगा। मन से सभी का परित्याग कर देने पर बाह्यपदार्थों का त्याग अपेक्षित नहीं रह जाता, अतः आपश्री ने मनसैव(मन से ही)शब्द में 'एव' का प्रयोग करके बाह्यपदार्थों का त्याग करना आवश्यक नहीं बताया। इस बात को युक्त बताने के लिए आपश्री ने 'हि' शब्द का प्रयोग किया है।

ननु मनसश्चलत्वाद्बहिस्त्यागाभावे कथं तन्निरोधो भवतीत्यत आहुर्यमादयस्तु कर्तव्या इति । यमा द्वादशविधाः । तदुक्तमेकादशे स्कन्धे "अहिंसे"त्यारभ्य "द्वादश स्मृता" इत्यनेन । आदिपदेन तत्रोक्ताः शमदमादयो ग्राह्याः । तेषु

कृतेषु मनः स्थिरीभवतीति भावः । तदुक्तं श्रीकपिलदेवेन “अत एव शनैश्चित्तं प्रसक्तमसतां पथि । भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्त्या च नयेद्वशम् । यमादिभिर्योगपथैरिति”त्यादि । भक्त्या भगवदतिरिक्तविषयविरक्त्या च भक्तिमार्गे तद्वशीकरणमुक्त्वा यमादिभिर्योगपथैरिति योगमार्गे तैरेव वशीकरणं भवतीत्युक्तम् । अत एवाऽवश्यकर्तव्यत्वाय योगपथैरिति विशेषणम् । तुशब्देनाऽकरणपक्षो व्यावर्त्यते । प्रकारान्तरेण तदसिद्धेः ।

किन्तु शंका यह होती है कि, मन तो चंचल है अतः बाह्यपदार्थों का त्याग किए बिना मन की वृत्ति का निरोध कैसे हो पायेगा ? तो आचार्यचरण इसके लिए यमादयस्तु कर्तव्याः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। योगमार्ग में बताया गया यम कुल मिला कर बारह है, जो कि एकादशस्कन्ध में “अहिंसा(श्री०भा-11/19/33)” इस वाक्य से आरम्भ करके “द्वादश स्मृताः(श्री०भा- 11/19/35)” इस वाक्य तक बताया गया है। आदि पद के द्वारा वहीं पर बताए गए शम, दम इत्यादि भी करने समझ लेने चाहिए। आपश्री का कहने का भाव यह कि, इन यम, नियम, शम, दम आदि करने से मन स्थिर रहता है। यही बात कपिलदेवजी ने भी “अत एव शनैश्चित्तं(श्री०भा- 3/27/5)” इत्यादि वाक्यों द्वारा कही है। उक्त वाक्य में कपिलदेवजी ने बताया है कि, भक्तिमार्ग में भक्ति द्वारा एवं भगवदतिरिक्त विषयों से विरक्ति ले लेने के माध्यम से मन को वशीभूत किया जाता है, और योगमार्ग में यम, नियम इत्यादि के द्वारा ही मन वश में होता है। अतएव योगमार्ग पर चलने के लिए यम, नियम आदि अवश्य करने ही चाहिए- यह बताने के लिए कपिलदेवजी ने यम, नियम आदि को “योगपथैः(योगमार्ग में आने वाले आवश्यक साधन जिनके द्वारा ही योगमार्ग सिद्ध होगा)” यह विशेषण दिया है। कपिलदेवजी ने ‘तु’ शब्द कह कर यम आदि न करने वाला पक्ष हटा दिया है, यानि यम आदि कर्तव्य तो करने ही होते हैं। क्योंकि इन्हें करे बिना अन्य किसी प्रकार से मन वश में नहीं होगा एवं योग भी सिद्ध नहीं होगा।

ततः किमित्यत आहुः सिद्धे योगे कृतार्थतेति । योगसिद्धौ कृतार्थो भवतीत्यर्थः । कथमिति चेद्, एवम् । यावज्जीवं योगाभ्यासे कृते स्वात्मज्ञानोदयो भवति । “अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनमिति” वाक्यात् । ततो योगबलेनैव देहापगमे अविद्यातो विमुच्यते । न त्वितोऽधिकं फलमित्यर्थः । अयमेव केवलयोगसाध्यो मोक्षः । तथा तत्त्वदीपेऽपि, “केवलेनाऽपि योगेन दग्धकर्ममलाशयः । योगवीर्येण जितदृक् लिङ्गं भित्त्वा तथा भवेदि”ति । अत्रापि ब्रह्मलाभाभावान्न कृतार्थतेति भावः ॥९॥

इसके पश्चात् क्या होगा, यह आपश्री सिद्धे योगे कृतार्थता इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य यह कि, योग सिद्ध हो जाने पर जीव कृतार्थ होता है। किस प्रकार कृतार्थ होता है, तो वह इस प्रकार कि, जीवनपर्यन्त योग का अभ्यास करने पर अपनी आत्मा में ज्ञानोदय होता है; जैसा कि “अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम्” इस वाक्य में कहा भी गया है। ज्ञानोदय हो जाने के पश्चात् योगबल से ही देह छूटने पर जीव अविद्या से पूर्णरूपेण मुक्त हो जाता है। योगमार्ग में इससे अधिक कोई फल प्राप्त नहीं होता- यह अर्थ है। केवल योग से सिद्ध होने वाला मोक्ष तो यही है। यही बात तत्त्वदीप में भी आचार्यचरणों ने “केवलेनाऽपि योगेन(सर्व-206)” इस वाक्य द्वारा कही है। किन्तु योगमार्ग में भी चूँकि ब्रह्मलाभ(ब्रह्मप्राप्ति)नहीं होता अतः एतन्मार्ग के दृष्टिकोण से जीव कृतार्थ नहीं हो पाता- यह भाव है ॥९॥

एवं स्वतः शास्त्रद्वयमुक्त्वा परतः शास्त्रद्वयमाहुः पराश्रयेणेति ।

पराश्रयेण मोक्षस्तु द्विधा सोऽपि निरूप्यते ।

ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातस्तद्रूपेण सुसेव्यते ॥१०॥

परशब्देन विष्णुशिवावुच्येते । तयोराश्रयेण तद्भजनेन मोक्षो द्विधा तत्तच्छास्त्रभेदात् द्विप्रकारको भवति । सोऽप्यत्र निरूप्यते कथ्यत इत्यर्थः । तुशब्दः स्वाश्रयपक्षव्यावर्तकः । स्वाश्रयापेक्षया पराश्रयस्याऽऽधिक्यं भक्तिमार्गे भविष्यतीति तदभावायाऽपिशब्देनाऽनादरः सूचितः ।

इस प्रकार से स्वतःमोक्ष के दो शास्त्र कहकर अब आचार्यचरण परतःमोक्ष बताने वाले दो शास्त्र पराश्रयेण इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

‘पर’ शब्द से आपश्री का तात्पर्य ‘विष्णु’ और ‘शिव’ हैं। पराश्रयेण का अर्थ है- इन दोनों का आश्रय करने से, यानि इनका भजन करने से दो प्रकार का मोक्ष प्राप्त होता है, यानि इन दोनों देवताओं का प्रतिपादन करने वाले दो शास्त्रों के अनुसार दो

प्रकार का मोक्ष प्राप्त होता है। आपश्री आज्ञा करते हैं- सोऽपि निरूप्यते अर्थात् उन दोनों प्रकार के मोक्ष का भी निरूपण हम यहाँ कर रहे हैं। 'तु' शब्द से ज्ञात होता है कि, अब यहाँ से स्वाश्रयपक्ष की चर्चा समाप्त हो चुकी है और पराश्रयपक्ष की चर्चा आरम्भ हो रही है। चूँकि भक्तिमार्ग में भी पराश्रय पर ही अधिक भार दिया जाता है इसलिए कोई पराश्रयमोक्ष को भक्तिमार्गीय प्रकार न समझ बैठे, इसलिए इस भ्रान्ति को दूर करने के लिए और साथ ही साथ ये वाला मोक्ष भी आपश्री को स्वीकार्य नहीं है- यह भी बताने के लिए आपश्री ने 'पराश्रयमोक्ष' के प्रति अनादरसूचक 'अपि' शब्द का प्रयोग किया है, यानि आपश्री को स्वाश्रयमोक्ष तो स्वीकार्य नहीं ही है, साथ ही साथ 'पराश्रयमोक्ष भी स्वीकार्य नहीं है-यह बात 'अपि' शब्द द्वारा सूचित होती है, यह श्रीदेवकीनन्दनचरण कहना चाह रहे हैं।

ननु ब्रह्मणा किमपराद्धम् । गुणावतारत्वेन त्रयाणामविशेषात्ततोऽपि कथं न मुक्तिरित्यत आहुर्ब्रह्मेति । ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातः प्राप्त इत्यर्थः । यथा ब्राह्मणो निरन्तरं स्ववर्णाश्रमादिविहितं कर्म कुर्वन् स्वार्थमेव सम्पादयति, न तद्विरुद्धमन्यार्थमपि । तथा ब्रह्माऽपि भगवदाज्ञप्तं सृष्टिलक्षणं कर्म करोति । स चेत्पुरुषार्थान्प्रयच्छेत्सर्वमुक्तिरेव स्यात् । तथा सति सृष्टिरुच्छिद्येत । अतः समर्थोऽपि न ददातीति भावः । किञ्च । तद्रूपेण सृष्टिकर्तृरूपेण सुसेव्यते । परं प्रजाकामैरेव न त्वन्यैरिति विशेषः । “प्रजाकामः प्रजापतीनि”ति वाक्यात् ॥१०॥

किन्तु यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि, चलो मोक्ष के लिए विष्णु और शिव की बात तो की गयी, परन्तु ब्रह्माजी ने क्या अपराध किया जो उनका नाम नहीं लिया गया ! भगवान के गुणावतार होने के नाते ब्रह्मा-विष्णु-शिव ये तीनों एक समान ही तो हैं, फिर ब्रह्माजी मुक्ति/मोक्ष क्यों नहीं दे सकते ? तो इसका उत्तर आपश्री ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातः इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। यानि ब्रह्माजी ब्राह्मणों के जैसे कार्य करते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि, जिस प्रकार ब्राह्मण निरन्तर अपने वर्णाश्रमधर्म में कहे गए कर्मों को करते हुए अपने कार्य से ही तात्पर्य रखते हैं, उसी प्रकार ब्रह्माजी को सृष्टि रचने का कार्य सौंपा गया है अतः भगवदाज्ञानुसार वे सृष्टि रचने का ही कार्य करते हैं और सृष्टि से सम्बन्धित कार्यों से ही तात्पर्य रखते हैं । अब यदि ब्रह्माजी भी पुरुषार्थ देने लग जायें, तब तो सभी की मुक्ति हो जायेगी और तब सृष्टिक्रम चलना ही भंग हो जायेगा। अतः पुरुषार्थ देने में समर्थ होते हुए भी ब्रह्माजी पुरुषार्थ नहीं देते- यह भाव है, यानि ब्राह्मण चाहे तो उनमें इतनी सामर्थ्य होती है कि वह अन्य बहुत कार्य कर सकते हैं, परन्तु, वह केवल अपने मूलकर्तव्य ही किया करते हैं और तदतिरिक्त कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करते, ठीक उसी प्रकार ब्रह्माजी में भी यद्यपि पुरुषार्थ देने की सामर्थ्य है, तथापि, वे उन्हें सौंपे गए सृष्टि रचने के कार्य से ही संबंध रखते हैं, अन्य दूसरे कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करते- यह ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातः का अर्थ है। वैसे ब्रह्माजी सृष्टिकर्ता के रूप में सुसेवित होते भी होते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि, जिनको संतानोत्पत्ति की कामना हो, वही ब्रह्माजी की सेवा करते हैं, अन्य नहीं- यह विशेष है। जैसा कि "प्रजाकामः प्रजापतीन्(श्री०भा- 2/3/2)"इस वाक्य में कहा भी गया है ॥१०॥

अत आहुस्ते सर्वार्था न चाऽऽद्येनेति ।

ते सर्वार्था न चाऽऽद्येन शास्त्रं किञ्चिदुदीरितम् ।

अतः शिवश्च विष्णुश्च जगतो हितकारकौ ॥११॥

वस्तुनः स्थितिसंहारौ कार्यौ शास्त्रप्रवर्तकौ ।

ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् सर्वात्मकतयोदितौ ॥१२॥

निर्दोषपूर्णगुणता तत्तच्छास्त्रे तयोः कृता ।

भोगमोक्षफले दातुं शक्तौ द्वावपि यद्यपि ॥१३॥

भोगः शिवेन मोक्षस्तु विष्णुनेति विनिश्चयः ।

लोकेऽपि यत्प्रभुर्भुङ्क्ते तन्न यच्छति कर्हिचित् ॥१४॥

आद्येन ब्रह्मणा चत्वारोऽपि ते न भवन्तीत्यर्थः । चकारेण क्वचिदर्थकामौ ततो भवतोऽपि, हिरण्यकशिपुप्रभृतीनामिव । परं न तयोः पुरुषार्थता, नाशहेतुत्वादिति ज्ञापितम् । मोक्षस्तु नैवेति विवेकः ।

अतः आपश्री ते सर्वार्था न चाद्येन(वे सभी पुरुषार्थ ब्रह्माजी से प्राप्त नहीं होते)यों कह रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं- आद्येन यानि ब्रह्माजी से चारों पुरुषार्थ नहीं मिलते- यह अर्थ है। परन्तु च शब्द से द्योतित होता है कि, ब्रह्माजी भी कभी-कभार 'अर्थ' और 'काम' पुरुषार्थ दे देते हैं, जिस प्रकार कि उन्होंने हिरण्यकशिपु जैसों को दिया था, परन्तु उनके द्वारा दिए 'अर्थ' और 'काम' की पुरुषार्थता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ब्रह्माजी द्वारा प्राप्त दोनों पुरुषार्थ अंततोगत्वा तो हिरण्यकशिपु के नाश का ही हेतु बने थे। यों एक घड़ी दूसरे पुरुषार्थों की बात तो चलो ठीक है परन्तु मोक्ष तो खैर ब्रह्माजी नहीं ही देते- यह विवेक है।

ननु ब्रह्माप्रतिपादितवैखानसमतानुसारेण विष्णुभजनान्मोक्षश्चेत्कथं नैवेत्युच्यत इत्यत आहुः शास्त्रं किञ्चिदुदीरितमिति । न हि शास्त्रप्रवर्तकत्वेन मोक्षस्ततो वक्तुं शक्यः । तथा सत्यतिप्रसङ्गः स्यात् ।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, ब्रह्माजी द्वारा प्रतिपादित वैखानस-मत में ब्रह्माजी ने कहा है कि विष्णुभजन करने से मोक्ष मिलता है, फिर आचार्यचरण ऐसा क्यों कह रहे हैं कि, ब्रह्माजी द्वारा मोक्ष नहीं ही मिलता ? तो आपश्री इस शंका का समाधान शास्त्रं किञ्चिदुदीरितम् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि केवल मोक्षशास्त्र के प्रवर्तक होने मात्र से ऐसा नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्माजी द्वारा भी मोक्ष मिलता है। यदि ब्रह्माजी भी मोक्ष देने लग जाएँ तब तो अति हो जायेगी, यानि विष्णु भी मोक्ष दें, शिव भी दें और ब्रह्माजी भी; तो सृष्टि के अन्यान्यकार्य कैसे संपन्न होंगे जिनके लिए भगवान ने इन देवताओं की नियुक्ति कर रखी है- यह अर्थ है।

एवमाद्यस्य पुरुषार्थदत्वं निषिध्येतरयोस्तत्प्रदत्वमाहुरत इति । यतो हेतोराद्यस्याऽतत्प्रदत्वमतो हेतोः शिवश्च विष्णुश्च जगतः सृष्टेः हितकारकौ पुरुषार्थप्रदावित्यर्थः । यद्यप्यनयोरपि स्वस्वकार्यपरता, तथाऽपि विष्णोः पालनं कार्यमतः “अधिकं तत्राऽनुप्रविष्टं न तु तद्भानि” इति न्यायेन मोक्षदाने न काऽपि क्षतिः । शिवस्य तु कार्यं संहारः । तदविरोधात् त्रिवर्गदाने न काऽपि क्षतिः । मोक्षदाने तु नोपसंहारः कर्तुं शक्य इति कार्यविरोधात्क्षतिः । अतस्तदग्रे निराकरिष्यन्ति ‘भोगः शिवेन’त्यादिना ॥११॥

इस प्रकार आद्य/ब्रह्माजी की पुरुषार्थ देने की बात का निषेध करके आचार्यचरण अतः इत्यादि शब्दों से 'विष्णु' और 'शिव' द्वारा पुरुषार्थ देने की बात कह रहे हैं। इससे आपश्री कहते हैं- चूँकि आद्य/ब्रह्माजी पुरुषार्थ नहीं देते, अतः शिव और विष्णु जगत/सृष्टि के हितकारक हैं यानि पुरुषार्थ देने वाले हैं- यह अर्थ है। यद्यपि ब्रह्माजी की भाँति ये दोनों देवता भी अपने-अपने कार्यों में व्यस्त तो रहते ही हैं, तथापि विष्णु का कार्य तो पालन करना है परन्तु "अधिकं तत्राऽनुप्रविष्टं न तु तद्भानिः" इस न्यायानुसार यदि वे इससे अधिक बढ़कर जीव को मोक्ष भी दे देते हों, तो इससे उनके कार्य में कोई क्षति नहीं आती। शिव का कार्य तो संहार करना है और संहारकार्य से विरुद्ध न जाते हुए यदि वे जीव को त्रिवर्ग(धर्म-अर्थ-काम) का दान कर दें, तो इससे उनके कार्य में कोई क्षति नहीं आती। हाँ, यदि शिव मोक्ष देने लग जाएँ, तो फिर वे संहार कैसे कर पायेंगे, इसलिए उनके कार्य में क्षति आती होने के कारण शिवजी मोक्ष नहीं देते। इसी बात का निराकरण आचार्यचरण आगे के श्लोक में "भोगः शिवेन" इत्यादि शब्दों से कर देंगे ॥११॥

तयोर्विशेषकार्यमप्याहुर्वस्तुन इति । वस्तुमात्रस्य स्थितिः संहारश्चोभौ तयोः कार्यौ कर्तव्यौ भवत इत्यर्थः । ‘वस्तुस्थितौ च संहारे कार्ये’ इति क्वचित्पाठः । तदा वस्तुस्थितिलक्षणे संहारलक्षणे च कार्ये तौ नियामकाविति योजनीयम् । किञ्च । स्वस्वगुणाधिकारकशास्त्रप्रवर्तकौ च ।

विष्णु और शिव जो कार्य करते हैं उन्हें भी आपश्री वस्तुनः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य है- जगत में वस्तु मात्र की 'स्थिति' और 'संहार' ये दोनों कार्य क्रमशः 'विष्णु' और 'शिव' के हैं- यह अर्थ है। कहीं कहीं पर वस्तुस्थितौ च संहारे कार्ये ऐसा पाठ भी प्राप्त होता है। यदि ऐसा पाठ मानें तो अर्थ होगा- वस्तु की 'स्थिति(अवस्थिति)' एवं 'संहाररूपी' कार्य करने में 'विष्णु' एवं 'शिव' दोनों ही नियामक हैं। और, ये भी कि, ये दोनों अपने-अपने गुणों के अधिकारानुसार उन-उन शास्त्रों के प्रवर्तक भी हैं, यानि शैवतन्त्र के प्रवर्तक शिव हैं और पञ्चरात्र के प्रवर्तक विष्णु हैं- यह अर्थ है।

ननु तच्छास्त्रेषु तयोः सर्वात्मकत्वकथनात्कथमेकैककार्यकर्तृत्वमिति चेत्तत्राऽऽहुर्ब्रह्मैवेति । यस्माद्धेतोर्ब्रह्मैव तादृशं तत्तत्कार्यार्थं तत्तद्रूपेण प्रकटं तत्तत्सञ्ज्ञया भिन्नमिव भाति । न तु वस्तुतस्तथा । अतस्तत्र तत्र सर्वात्मकतया

कथितावित्यर्थः । उक्तहेतौरेव तत्र तत्र तयोर्निर्दोषपूर्णगुणता च कृता प्रतिपादितेत्यर्थः । वस्तुतो निर्दोषपूर्णगुणत्वं सर्वात्मकत्वं परब्रह्मणः श्रीकृष्णस्यैवेति दिक् । तथा चोक्तं प्रथमस्कन्धे, 'परः पुरुष एक इहाऽस्य धत्ते स्थित्यादये हरिविरञ्चिहरेति संज्ञा' इति । दशमेऽपि, 'त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये' इति ।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, इनके शास्त्रों में इन दोनों को सर्वात्मक बताया गया है, अतः ये कैसे कहा जा सकता है कि, ये दोनों केवल एक-एक कार्य ही कर सकते हैं ? जबकि इनके शास्त्रों में बताए गए इनके माहात्म्य के अनुसार तो इन्हें सर्वसामर्थ्यवान और सब कुछ देने वाले होना चाहिए था !! तो आचार्यचरण इसका स्पष्टीकरण ब्रह्मैव इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह कि- चूँकि स्वयं ब्रह्म ही विष्णु और शिव के रूप में दोनों के कार्य करने के लिए इन दोनों के रूप में प्रकट होते हैं और ब्रह्म को ही फिर 'विष्णु' और 'शिव' नाम मिल जाता है अतः दोनों देवता यद्यपि ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तव में तो ये दोनों ब्रह्म से भिन्न हैं ही नहीं। इसी दृष्टिकोण से इनके शास्त्रों में इन्हें सर्वात्मकतया कह दिया गया है। और ब्रह्म के ही दृष्टिकोण से उन उन स्थलों पर इनकी निर्दोषपूर्णगुणता भी कह दी गयी है, स्वतन्त्ररूप से इन देवताओं की नहीं। किन्तु वास्तव में निर्दोषपूर्णगुणता एवं सर्वात्मकता तो परब्रह्म श्रीकृष्ण की ही है। यही बात प्रथमस्कन्ध में "परः पुरुषः(श्री०भा-१/२/२३)" इस वाक्य द्वारा और दशमस्कन्ध में भी "त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां(श्री०भा-१०/२/२८)" इस वाक्य द्वारा कही गयी है।

अत एवोभयोः स्वस्वगुणानुगुणं फलदातृत्वमाहुर्भोगमोक्षफले इति । यद्यपि भगवद्गुणावतारत्वेन द्वावपि शिवविष्णू भोगमोक्षफले दातुं शक्तौ समर्थौ, तथापि तदुणविचारेण शिवेन भोगः सिद्ध्यति विष्णुना मोक्ष इति निश्चयो युक्त इत्यर्थः । तत्राऽपि न तयोः कर्तृत्वं, किन्तु करणतैवेति तृतीयया बोध्यते । कर्तृत्वं सर्वत्र भगवत एवेति स्वसिद्धान्तः । उक्तं च मुचुकुन्दं प्रति देवैः, 'एक एवेश्वरस्तस्ये'ति । 'श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युरित्यत्र श्रेयांसीति बहुवचनात्सात्त्विकान्येव तान्युच्यन्ते । मोक्षस्य बहुत्वानुपपत्तेः । तथा च यत्र विष्णोः सकाशान्मोक्ष उच्यते तत्र विष्णुपदं पुरुषोत्तमपरं क्वचिज्ज्ञेयम् । यदि तच्छास्त्ररीत्या गुणावतारपरं तदुच्यते तदा मोक्षपदार्थस्तत्रैव लयो वाच्यः, 'देवान् देवयजो यान्ती'ति भगवद्वाक्यात् । तथा निबन्धेऽपि 'आदिमूर्तिः कृष्ण एव सेव्यः सायुज्यकाम्यया । निर्गुणा मुक्तिरस्माद्धि सगुणा साऽन्यसेवये'ति ।

अतएव विष्णु और शिव दोनों अपने अपने गुणों के अनुसार फल देते हैं, यह बात आपश्री भोगमोक्षफले इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यद्यपि भगवान के गुणावतार होने के नाते शिव-विष्णु दोनों क्रमशः 'भोग' और 'मोक्ष' दोनों फल देने में समर्थ हैं, तथापि ये जिन गुणों के अधिष्ठाता देवता हैं, उन गुणों के अनुसार शिव द्वारा 'भोग' प्राप्त होता है और विष्णु से 'मोक्ष' प्राप्त होता है, यह निश्चय होता है- यह अर्थ है। फिर भी वास्तव में देखा जाय तो ये दोनों देवता तो फल देते ही नहीं अपितु परब्रह्मश्रीकृष्ण ही देते हैं, ये देवता तो श्रीकृष्ण के माध्यम से फलदान करते हैं- यह बात बताने के लिए आपश्री ने शिवेन और विष्णुना ये दो पद तृतीयाविभक्ति में दिए हैं। वास्तविकता में तो फलदान भगवान ही करते हैं, यह अपने मार्ग का सिद्धान्त है। यही बात मुचुकुन्द के प्रति देवताओं द्वारा कहे "राजन् ! आपका कल्याण हो, जो चाहे माँग लीजिए। हम मोक्ष के अतिरिक्त आपको सभी कुछ दे सकते हैं। क्योंकि मोक्ष देने की क्षमता तो केवल भगवान में ही है (श्री०भा-१०/५१/२०)" इस वाक्य में कही गयी है। और "श्रेयांसि तत्र खलु(श्री०भा-१/२/२३)" इस श्लोक में 'श्रेयांसि' पद बहुवचन में दिया होने से भी यह बात पता चलती है कि, उक्तश्लोक में 'श्रेयांसि' पद का अर्थ मोक्ष नहीं है अपितु 'श्रेयांसि' पद का अर्थ 'सात्त्विकश्रेय(सात्त्विकरूप से कल्याण होना)' ही है, क्योंकि मोक्ष तो एक ही होता है, अनेक मोक्ष नहीं होते, अतः 'श्रेयांसि' इस बहुवचन के पद का अर्थ मोक्ष नहीं अपितु सात्त्विकश्रेय ही है। इसलिए उक्त वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि, ये देवता सत्त्व आदि अन्य गुण ही देते हैं, मोक्ष नहीं दे सकते। और जिन शास्त्रों में सीधे-सीधे विष्णु द्वारा ही मोक्ष देने की बात कही गयी है, उन -उन स्थलों पर 'विष्णु' पद को पुरुषोत्तम का वाचक जानना चाहिए, यानि उन स्थलों पर 'विष्णु' पद पुरुषोत्तम के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ जानना चाहिए। और यदि विष्णु एवं शिव के शास्त्रों में जहाँ दोनों के लिए भगवान के

गुणावतार के रूप में ही मोक्ष देने की बात कही गयी है, तो फिर वहाँ मोक्ष का अर्थ इन देवताओं में लय हो जाना ही समझना चाहिए, जो प्रकार "देवान् देवयजो(भ०गी- 7/23)" इस वाक्य में कहा गया है। इसी संदर्भ की बात निबन्ध में भी आचार्यचरणों ने "आदिमूर्तिः कृष्ण एव(शा०प्र-13)" इस कारिका द्वारा कही है।

ननुभयोः समत्वेनाऽविशेषात्कथं नोभाभ्यां मुक्तिरिति चेद्, उच्यते । 'ज्ञानान्मोक्ष' इति सर्वशास्त्रसिद्धम् । तथा च 'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानमि'ति वाक्यात्तदुणाधिष्ठात्रा स सुलभ इत्युच्यते । भोगस्य तत्प्रतिबन्धकत्वाददानमपि । तमसो ज्ञानप्रतिबन्धकत्वात्तदुणाधिष्ठात्रा स दुर्लभ इत्युच्यते । भोगस्तन्मूलक एवेति सुलभत्वं युक्तमेव । ननु तत्तच्छास्त्रेषु स सुलभ एवेति चेद्, 'ओमिति ब्रूमः । "शक्तौ द्वावपी"ति पूर्वमुपपादितं च । न तावताऽस्माकं काऽपि क्षतिः, उभयोस्स्वीकारात् ।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, जब विष्णु और शिव दोनों एक ही हैं और इनमें कोई भी अंतर नहीं है, तो फिर दोनों ही मुक्ति क्यों नहीं देते ? तो हम इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। यहाँ यह समझना चाहिए कि "ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है(महा/शान्तिपर्व/मोक्षधर्म/318/87)" इस वाक्यानुसार ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होना तो सर्वशास्त्रसिद्ध बात है, और चूँकि "सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानम्(भ०गी- 14/17)" इस वाक्यानुसार ज्ञान सत्त्वगुण से पैदा होता है, अतः सत्त्वगुण के अधिष्ठाता देवता विष्णु से मोक्ष/मुक्ति प्राप्त होनी सुलभ होती है। और विष्णु भोग इसलिए नहीं देते क्योंकि भोग मुक्ति में प्रतिबन्धक बन जायेगा ! और, तमोगुण चूँकि ज्ञान में प्रतिबन्धक होता है अतः तमोगुण के अधिष्ठाता शिव के लिए मोक्ष देना दुर्लभ होता है- यह आचार्यचरण कहना चाह रहे हैं। अब चूँकि भोग का मूलकारण तो तमोगुण ही है, अतः तमोगुण के अधिष्ठाता शिव के लिए भोग देना सुलभ होना तो उचित बात ही है। किन्तु कोई ये शंका करता है कि, विष्णु और शिव दोनों के शास्त्रों में यह बात बतायी गयी है कि, इन दोनों के लिए मोक्ष देना सुलभ है !! यदि कोई ऐसा कहता हो, हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं अपितु हम तो ये कहेंगे कि हमें ये बात स्वीकार्य है, क्योंकि आचार्यचरण तो पहले ही "शक्तौ द्वावपी" इत्यादि पदों से यह बात खुद कह आए हैं कि, दोनों ही देवता भोग और मोक्ष दोनों ही देने में समर्थ हैं; और ऐसा कहने में हमारा कोई नुकसान भी नहीं है; दोनों देवता दोनों पुरुषार्थ देते हों तो भले दें, क्योंकि हम पुष्टिमार्गीयों को तो न भोग चाहिए और न ही मोक्ष।

एवं जीवविचारेण लौकिको मोक्षश्चतुर्धा प्रतिपादितः । तस्याऽनीश्वरविचारितत्वादस्वीकारोऽप्यर्थादुक्तः । यद्यपि भगवदीयानां मोक्षाभिलाषाहित्यादेतदुक्तं नोपयुज्यते । तथापि "पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीय" इति न्यायेन यदि कस्याऽपि तत्रोपादेयबुद्धिः स्यात्प्रमाणसिद्धत्वात्साऽपि मा भूदित्याशयेन जीवभ्रान्तिकल्पितास्ते चत्वारोऽपीत्युक्तम् ।^१ अत एतद्द्रष्टारस्तत्र न प्रपत्स्यन्त इति पर्यवसितोऽर्थः ।

इस प्रकार से यहाँ तक आचार्यचरणों ने जीव द्वारा विचारित चार प्रकार का लौकिकमोक्ष प्रतिपादित किया। अब चूँकि ये चारों ईश्वर द्वारा विचारित नहीं हैं, अतः ये बात तो अपने आप ही सिद्ध हो जाती है कि हम पुष्टिमार्गीयों को ये चारों प्रकार के मोक्ष नहीं चाहिए होते। हालाँकि आचार्यचरणों को उक्त चार प्रकार के लौकिकमोक्षों के बारे में बताने की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि भगवदीयों को तो इनमें के किसी भी मोक्ष की अभिलाषा नहीं होती, तथापि "रहा-सहा दोष भी दूर कर देना चाहिए" इस न्यायानुसार इसमें आचार्यचरणों का अभिप्राय यह कि, चूँकि लौकिकमोक्ष भी आखिरकार तो शास्त्र द्वारा प्रमाणित ही है अतः मान लो, कभी किसी भगवदीय को अपनी बुद्धि से ये लौकिकमोक्ष उपयोगी लगने लगें और वह इनकी ओर आकर्षित हो जाय, इसलिए इतना सा भी दोष दूर कर दिया जाना चाहिए- इस आशय से आचार्यचरण ने इनका विवरण करके यह कह दिया है कि, उपरोक्त लौकिकमोक्ष जीवभ्रान्ति से होने वाली कल्पना मात्र है और उसे लौकिकमोक्ष को उपयोगी नहीं मानना चाहिए। अतः इसका फलितार्थ यह निकलता है कि, जिसने इस ग्रन्थ को पढ़ा है, वह इन लौकिकमोक्षों की ओर प्रवृत्त नहीं होता।

ननु भक्तिमार्गे मोक्षस्याऽनीप्सितत्वेन न तद्वातुर्विण्णोर्भजनापेक्षा । किन्तु विषयाणां भगवत्सेवोपयोगित्वेन तदभावे तद्वातुः शिवस्य तदपेक्षाऽस्त्विति चेत्, तत्राऽऽहुर्लोकेऽपीति । प्रभुः सेवकानां पतिः श्रीकृष्णो यद्भक्तसम्बन्धि वस्तु भुङ्क्ते स्वयमभ्यवहरति, तद्वस्तु कर्हिचित्कदाऽपि शिवो न यच्छति न ददातीत्यर्थः । तथा सति भगवतो

भक्तकामनापूरकत्वं “सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसे”ति वाक्याद्भक्तेर्वा कल्पतरुत्वं भज्येत । अतः सर्वथेतरापेक्षा भक्तिमतां नोचितेति भावः । अत एव नैरपेक्ष्यं भक्तेरङ्गमिति भगवानप्याह । “तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेदि”ति । किञ्च, “यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिगि”ति वचनाद्यत्र स्वार्थं भगवदपेक्षाऽपि दोषाय तत्राऽन्यापेक्षायास्तथात्वे किं वाच्यमिति । तस्मात्स्वीयानां सर्वं स्वयमेव हरिः सम्पादयतीति सिद्धान्तरहस्यम् । “अप्रतर्क्यादिनिर्देश्यादिति केष्वपि निश्चयः” इति वचनाच्च ॥१२॥१३॥१४॥

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, चलो भक्तिमार्ग में भगवदीयों को मोक्ष की चाहना नहीं होती, अतः मोक्षदाता विष्णु का भजन वे नहीं करेंगे/करते, किन्तु, विषय तो भगवत्सेवा में उपयोगी होते हैं अतः विषय/भोग देने वाले शिव का भजन करने की तो अपेक्षा है ही !! यदि कोई ऐसी शंका करे, तो आचार्यचरण लोकेऽपि इत्यादि शब्दों से इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। इससे आपश्री को यह बात बतानी है कि, प्रभुः यानि अपने सेवकों के पति/स्वामी श्रीकृष्ण भक्तसम्बन्धी जिस वस्तु का भोग करते हैं, वह वस्तु भक्त को शिव तो कदापि कभी भी नहीं दे सकते- यह अर्थ है। यदि भक्त को शिव ही देने लग जाँ, तो फिर भगवान को भक्तकामनापूरक कैसे कहा जा सकेगा, और "सर्वं मद्भक्तियोगेन(श्री०भा- 11/20/33)" इस वाक्यानुसार भक्ति को कल्पतरु कहने(मनोवांछित देने वाली)वाली बात भी भंग हो जायेगी !! अतः उपरोक्त भागवतवाक्य में यह बात बतायी गयी है कि, भक्तिमार्गीय को अपने स्वामी प्रभु के अतिरिक्त अन्य किसी से भी कोई भी अपेक्षा रखनी उचित नहीं है। इसलिए, निरपेक्षता भक्ति का अंग है- यह बात भगवान ने भी "तस्मान्निराशिषो(श्री०भा-11/20/35)" इस वाक्य द्वारा बतायी है। और, "यस्त आशिष आशास्ते(श्री०भा-7/10/4)" इस वचनानुसार जहाँ स्वयं अपने लिए भी भगवान से माँगना दोष बताया गया है, वहाँ किसी दूसरे से माँगने की बात तो दूर रही। इसलिए स्वीयजनों के लिए सभी कुछ स्वयं हरि ही सम्पादित करते हैं- यह अपने मार्ग के सिद्धान्त का रहस्य है, जैसा कि "अप्रतर्क्यात्...निश्चयः" इस वाक्य में बताया भी गया है ॥12,13,14॥

किञ्च । भगवदीयातिरिक्तस्याऽपि विषयसम्पत्तिर्न तेन सम्पाद्यते । येन भक्तानामपि तथोच्येत । किन्तु कस्यचिदेवेत्याहुरतिप्रियायेति ।

अतिप्रियाय तदपि दीयते क्वचिदेव हि ।

नियतार्थप्रदानेन तदीयत्वं तदाश्रयः ॥१५॥

प्रत्येकं साधनञ्चैतद् द्वितीयार्थं महाञ्छ्रमः ।

तेन यदीयते तदतिप्रियाय स्वस्याऽत्यन्तभक्ताय न तु यस्मै कस्मैचिदित्यर्थः । तादृशेनाऽप्यपराद्धं चेत्कुप्यत्येव न तु क्षमते कदाचिदित्याशयेन तत्रापि नियमो नेत्याहुः, क्वचिदेव, न तु सर्वत्र । हि युक्तोऽयमर्थः । “ये यथा मां प्रपद्यन्ते” इति वाक्यात् । यथा नियतं फलं भक्तेभ्यो भगवान्प्रयच्छति न तथाऽन्यो दातुं शक्नुयात् । अनीश्वरत्वादिति । अत एव “अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परमि”ति सार्वकामिकं भगवद्भजनमेवोक्तम् ।

और, यह बात भी है कि, भगवदीयों की बात तो खैर दूर रही परंतु जब शिव अन्य सभी को भी विषयसम्पत्ति नहीं देते अपितु किसी अतिप्रिय को ही देते हैं, तो फिर भगवदीयों को शिव का भजन करने की बात का उपदेश कैसे दिया जा सकता है ! यह बात बताने के लिए आपश्री अतिप्रियाय इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि, शिव यदि किसी को 'भोग' देते भी हैं, तो अपने किसी अत्यन्त प्रियभक्त को ही देते हैं, जिस-किसी को नहीं- यह अर्थ है। और यदि ऐसा अतिप्रियभक्त भी यदि कोई अपराध कर बैठे, तो वे उस पर कुपित भी होते हैं, उसे कभी क्षमा नहीं करते। क्वचिदेव पद से यह बात ज्ञात होती है कि, अपने प्रिय भक्त को भी 'भोग' देने का इनका ऐसा कोई नियम नहीं है कि उसे देंगे ही, अपितु, कभी-कभार देंगे, न कि हमेशा। हि इस अर्थ को युक्त बताने के लिए प्रयोग किया है, जैसा कि "जो जिस भाव से मेरे शरणागत होता है, मैं उसी भाव से उसको प्राप्त होता हूँ(भ०गी-4/11)" इस वाक्य में भी बताया गया है कि, जिस भाव से प्रभुभजन करेंगे, प्रभु भी उसी भाव से प्राप्त होंगे, यानि भगवदीयता रखेंगे तो प्रभु कृपा करेंगे और अपराध करेंगे तो कुपित होंगे। परन्तु जिस प्रकार निश्चितरूप से फल(नियतफल)अपने भक्तों को भगवान-

पुरुषोत्तम देते हैं, उस प्रकार से अन्य देवता नहीं दे सकते क्योंकि देवता ईश्वर नहीं हैं। इसी कारण भगवान के लिए "अकामः सर्वकामो वा(श्री०भा-२/३/१०)" यह वाक्य कहा गया है।

ननु शिवस्याऽर्थदातृत्वं नियतमनियतं वा भवतु, ततोऽत्र किमागतमित्यत आहुः नियतार्थप्रदानेनेति । नियतं चेदर्थप्रदानं तस्योच्येत तदा भगवदीयानामप्यर्थस्य तदीयत्वं तत्सम्पादितत्वं स्यात् । बहिर्वैलक्षण्याप्रतीतेः ।

यहाँ किसी को प्रश्न यह होता है कि, शिव निश्चितरूप से फल दें या अनिश्चितरूप से, यानि भक्तों के लिए अर्थपूर्ति निश्चितरूप से करें या अनिश्चितरूप से, आखिर इस बात से आचार्यचरण हमें समझाना क्या चाह रहे हैं- तो आपश्री नियतार्थप्रदानेन इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। इससे आपश्री का कहने का तात्पर्य यह है कि, यदि ये कह दिया जाय कि शिव निश्चितरूप से सभी को फल देते ही हैं, तब तो फिर सिद्ध ये हो जायेगा कि भगवदीयों को भी फल शिव ही देते हैं, क्योंकि भक्त को जब फलप्राप्ति होगी तो बाहरी तौर पर ये पता तो नहीं चल पायेगा कि फल भगवान-पुरुषोत्तम दे रहे हैं या शिव !

नन्वर्थस्य तथात्वे को दोष इति चेत्तत्राऽऽहुः तदाश्रय इति । तस्यैवाऽर्थदातृत्वनिश्चये भगवदीयानां तदपेक्षायां तस्यैवाऽऽश्रयो भवेदित्यर्थः । न चैतद्युक्तम्, निषेधश्रवणात् । “सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रजे”ति । “मदन्यत्ते न जानन्ति नाऽहं तेभ्यो मनागपि” इति च । तथा च भगवदीयातिरिक्तस्य मोक्षापेक्षायां विष्णुभजनं, भोगापेक्षायां शिवभजनमिति व्यवस्थापितम् ॥१५॥

तब कोई ये शंका करते हैं कि, "भगवदीयों को भी शिव ही फल दें तो क्या हानि है" तो आपश्री इसका स्पष्टीकरण तदाश्रयः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री यह समझाना चाह रहे हैं कि- यदि भगवदीय यह निश्चय कर लें कि, शिव ही फल देते हैं, तो फिर सारे भगवदीय फल की अपेक्षा शिव से ही रखते हुए शिव का आश्रय करने लगेंगे और यह बात उचित नहीं होगी, क्योंकि भक्तिमार्ग में तो अन्याश्रय का निषेध बताया गया है, जैसा कि "सर्वधर्मान् परित्यज्य(भ०गी- १८/६६)" इस वाक्य में एवं "मदन्यत्ते न जानन्ति(श्री०भा-९/४/६८)" इस वाक्य द्वारा भगवान ने कहा भी है। इन समस्त विवेचनों का अर्थ यह हुआ कि, भगवदीयों के अतिरिक्त अन्य भक्तों को यदि 'मोक्ष' की अपेक्षा हो तो विष्णु का भजन करें और 'भोग' की कामना हो तो शिव का भजन करें, यह व्यवस्था की गयी है ॥१५॥

न तूभयापेक्षायामेकेनाऽपि तत्सिद्ध्यतीत्याहुः प्रत्येकं साधनं चैतदिति । एतद्विष्णुभजनं शिवभजनं च प्रत्येकमेकं मोक्षसाधनमपरं भोगसाधनम् । न त्वेकमुभयसाधनमित्यर्थः । तेनोभयाकाङ्क्षिभिर्भगवानेवाऽऽश्रीयतामिति ज्ञापितम् ।

किन्तु किसी को यदि 'भोग' और 'मोक्ष' दोनों ही फल प्राप्त करने की इच्छा हो तो इन दोनों देवताओं में से किसी एक से सिद्ध नहीं हो पायेगा- यह बात आपश्री साधनं चैतद् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य यह कि, विष्णुभजन और शिवभजन में से एक मोक्षप्राप्ति का साधन है और दूसरा भोगप्राप्ति का साधन। इनमें से केवल एक का ही भजन करना दोनों फल प्राप्त करने का साधन नहीं है- यह अर्थ है। इसलिए जिसे दोनों फल प्राप्त करने की इच्छा हो, उसे तो भगवान का ही आश्रय करना चाहिए- यह बताया जा रहा है।

ननु भक्तिमार्गे “स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन” इति वाक्यादुभयोरनपेक्षितत्वेन किं तदाश्रयेणेत्यत आहुर्द्वितीयार्थ इति । एको लौकिको मोक्षश्चतुर्द्धा पूर्वमुक्तो, द्वितीयस्त्वलौकिको भक्तिमार्गीयः । तदर्थं यः श्रमः तन्मार्गीयसाधनाचरणलक्षणः स महान्, पूर्वोक्तापेक्षया साधनतः फलतः स्वरूपतश्चाऽप्युत्कृष्ट इत्यर्थः । इदमत्राऽऽकृतम् । विष्णोः सात्त्विकत्वात्तत्र लयः सात्त्विको मोक्षः । यत्र फलस्य सदोषत्वं तत्र साधनं सुतरां तादृशमेव । भक्तिमार्गे तु निर्दोषपूर्णगुणविग्रहः श्रीकृष्णः फलम् । साधनं च तन्निष्ठं निरुपधि प्रेम । तच्च, “मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतमि”ति वाक्यात्तादृशमेव ।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, "स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि(श्री०भा- ६/१७/२८)" इस वाक्यानुसार भक्तिमार्ग में तो भोग और मोक्ष दोनों फल अपेक्षित नहीं होते, फिर भक्तिमार्गीय को इन फलों के लिए भगवान का भी आश्रय करने की क्या आवश्यकता ? यदि ऐसी शंका होती हो, तो आचार्यचरण द्वितीयार्थ महाञ्छ्रमः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री

यह बताना चाह रहे हैं कि, पहले यह बताया गया था कि, लौकिकमोक्ष चार प्रकार का होता है, किन्तु अब द्वितीयार्थ शब्द से आपश्री दूसरे प्रकार के मोक्ष यानि अलौकिकमोक्ष के बारे में कह रहे हैं यानि पुष्टिभक्तिमार्गीयमोक्ष के विषय में बता रहे हैं, जिसको प्राप्त करने के लिए पुष्टिभक्तिमार्गीय को अवश्य प्रयत्न करना चाहिए और श्रीकृष्ण का आश्रय करना चाहिए। इससे आपश्री आज्ञा करते हैं- द्वितीय/अलौकिक पुष्टिभक्तिमार्गीयमोक्ष प्राप्त करने के लिए जो श्रम किया जाता है, यानि जो पुष्टिभक्तिमार्गीय साधनाचरण किया जाता है, वह श्रम महान है, यानि पूर्व में बताए लौकिकमोक्ष की तुलना में साधन के दृष्टिकोण से, फल के दृष्टिकोण से और स्वरूप के दृष्टिकोण से उत्कृष्ट है- यह अर्थ है। इसमें मुद्दा यह समझना चाहिए कि, विष्णुभजन सात्त्विक होता है अतः विष्णु में लय हो जाना सात्त्विकमोक्ष कहलाता है; अब फल दोषयुक्त होगा तो उसका साधन भी दोषयुक्त होगा ही। जबकि पुष्टिभक्तिमार्ग में तो निर्दोषपूर्णगुणविग्रह श्रीकृष्ण ही फल हैं, और उसका साधन भी श्रीकृष्ण के प्रति रहने वाला निरुपधि प्रेम है। और श्रीकृष्ण के प्रति होने वाला प्रेम भी "मन्त्रिष्ठं निर्गुणं स्मृतं(श्री०भा-११/२५/२४)" इस वाक्यानुसार निर्गुण ही है, इसलिए पुष्टिभक्तिमार्गीयमोक्ष एवं इस मोक्ष को प्राप्त करने के लिए किया जाने वाला श्रम अन्यो की अपेक्षा उत्कृष्ट है- यह अर्थ है।

एतच्च फलदशायामेव भवतीति प्रथमाधिकारे जीवानां सहजदुष्टत्वं तन्निवृत्तिप्रकारं चाऽऽहुर्जीवः स्वभावतो दुष्टा इति ।

जीवाः स्वभावतो दुष्टा दोषाभावाय सर्वदा ॥१६॥

श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिद्ध्यति ।

मोक्षस्तु सुलभो विष्णोर्भोगश्च शिवतस्तथा ॥१७॥

समर्पणेनाऽऽत्मनो हि तदीयत्वं भवेद्भुवम् ।

स्वभावत एव दुष्टाः । न तु स्वरूपतः । भगवदंशत्वादित्यर्थः । "ममैवांशो जीवलोक" इति भगवद्वचनात् । "अंशो नानाव्यपदेशादि"ति वेदान्तसूत्राच्च ।

किन्तु अलौकिकमोक्ष या श्रीकृष्ण का निरुपधि प्रेम इत्यादि तो फलदशा में पहुँचने पर ही प्राप्त होता है, जबकि प्रथमाधिकार में तो जीव सहजदुष्ट होता है- यह बात और उसकी दुष्टता को दूर करने का प्रकार भी आपश्री जीवाः स्वभावतो दुष्टाः इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं।

इससे आपश्री का तात्पर्य है- जीव स्वभाव से ही दुष्ट होता है, स्वरूपतः नहीं, क्योंकि अंततोगत्वा तो वह भगवदंश है- यह अर्थ है। जैसा कि "ममैवांशो जीवलोके(भ०गी-१५/७)" इस वाक्य में और "अंशो नानाव्यपदेशात्(ब्र०सू-२/३/४३)" इस सूत्र में कहा भी गया है।

अथवा । ननु लौकिकमोक्षस्य जीवविचारितत्वादनङ्गीकरणं युक्तमेव । परं वेदोक्तस्य तस्येश्वरविचारितत्वादङ्गीकार उचित इत्यत आहुर्द्वितीयार्थ इति । द्वितीयो वैदिको मोक्षस्तदर्थं श्रम आयासो महानधिक इत्यर्थः । तेनाऽतिकष्टसाध्यत्वात्किं तत्कथनेनेति भावः । तेन लौकिकवैदिकभक्तिमार्गीयेषु क्रमेण शत्रूदासीनमित्रभावा उक्ता भवन्ति ।

अथवा, यहाँ पर द्वितीयार्थ महाञ्छ्रमः इस पंक्ति का अर्थ श्रीदेवकीनन्दनचरण दूसरे ढंग से कर रहे हैं। इस पक्ष के द्वारा श्रीदेवकीनन्दनचरणों ने द्वितीयार्थ शब्द का अर्थ वेदोक्तपुरुषार्थ किया है। जबकि इसके पूर्व में इन्होंने द्वितीयार्थ का अर्थ एतन्मार्गीयपुरुषार्थ किया था। द्वितीयार्थ महाञ्छ्रमः का अर्थ दूसरे प्रकार से भी किया जा सकता है। वह इस प्रकार कि, यदि कोई प्रश्न करे कि- चलो, लौकिकमोक्ष का विचार चूँकि जीव ने किया है अतः आपश्री का लौकिकमोक्ष को न स्वीकारना तो ठीक बात है, परन्तु, वेद में कहे और ईश्वर द्वारा विचारित वैदिकमोक्ष को स्वीकारना तो उचित बात ही है !! यदि किसी को ऐसी शंका हो तो आचार्यचरण इसका समाधान द्वितीयार्थ महाञ्छ्रमः इन शब्दों से कर रहे हैं। लौकिकमोक्ष को तो खैर नहीं ही स्वीकारना है परन्तु आपश्री कहते हैं कि द्वितीय यानि वेदोक्तमोक्ष प्राप्त करने के लिए भी महानश्रम करना पड़ता है, यानि अतिकष्टसाध्य होने के कारण वेदोक्तमोक्ष के बारे में कहने से भी क्या लाभ अतः क्या कहें ! इससे

यह बात सिद्ध होती है कि, लौकिक-वैदिक-भक्तिमार्गीय इन तीनों प्रकार के मोक्षों के प्रति पुष्टिमार्गीयों को क्रमशः शत्रु-उदासीन-मित्र भाव होते हैं, यानि पुष्टिमार्गीयजीव लौकिकमोक्ष प्राप्त करने का तो विरोधी होता है, वेदोक्तमोक्ष के प्रति उदासीन रहता है यानि वेदोक्तमोक्ष उसे चाहिए नहीं होता और भक्तिमार्गीयमोक्ष के प्रति उसे मैत्रीभाव होता है अर्थात् उसकी चाहना होती है- यह अर्थ है।

तर्हि किमुद्दिश्य किं कर्तव्यमिति चेत्तत्राऽऽहुर्जीवा इति, स्वभावतो दुष्टा इत्यर्थः । (तथा च) जीवानां सहजभगवदंशत्वेन सहजभगवद्दासत्वेन तत्सेवालक्षणस्वधर्माकरणं स्वभावदोष उच्यते । अतस्तेषां दोषाभावाय श्रवणादि भगवच्छ्रवणकीर्तनादि सर्वदा निरन्तरं कर्तव्यत्वेन साधनमिति शेषः । ततः कः पुरुषार्थ इत्यत आहुस्तत इति । ततो दोषनिवृत्त्यनन्तरं श्रवणादितो वा भगवति प्रेम्णि जाते तेनैव तेषां सर्वमैहिकं पारलौकिकं च कार्य सिद्ध्यति । न किञ्चिदवशिष्यत इत्यर्थः ।

तब फिर पुष्टिभक्तिमार्गीय को किस मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिए और क्या करना चाहिए ? यह प्रश्न होने पर आपश्री जीवाः स्वभावतो दुष्टाः इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य यह कि, जीव तो भगवदंश होने के नाते सहजरूप से भगवान के दास हैं, इसलिए भगवान की सेवा करने रूप अपना स्वधर्म न करें, तो इसे आपश्री जीव का स्वभावदोष बता रहे हैं। अतः जीवदोष दूर करने के लिए श्रवणादि यानि भगवत्सम्बन्धी श्रवणकीर्तन आदि सर्वदा निरन्तर करते रहना दोष दूर करने का साधन है। अब ऐसा करने से क्या पुरुषार्थ सिद्ध होगा, यह आपश्री ततः इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। ततः यानि दोषों की निवृत्ति होने के पश्चात् अथवा तो निरन्तर श्रवणादि करते रहने से भगवान में प्रेम उत्पन्न होगा और श्रवणकीर्तन आदि से ही जीवों के सर्व यानि लौकिक-पारलौकिक सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं, इसके पश्चात् फिर कोई कार्य पूर्ण होने अवशिष्ट नहीं रह जाते- यह अर्थ है।

ननु पारलौकिकत्वेन मोक्षो वक्तव्यः । “कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं ब्रजेदि”ति वचनात् । एवं सति कथं मोक्षस्याऽनपेक्षितत्वमिति चेत् । एवम् । कीर्तनादेवेत्येवकारो मोक्षे कीर्तनातिरिक्तसाधनव्यवच्छेदको, न तु कीर्तनस्य मोक्षैकफलत्वसूचकः । तथा सति प्रेमरहितस्य मोक्षसाधनत्वेन कृतस्य तस्य स एव फलम् । प्रेमसहितस्याऽतथा कृतस्य न तत्फलमिति व्यवस्था । अन्यथा भगवानपि कथमेवं वदेत्, “सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना” इति । तेन भगवानपि तादृशेभ्यो भजनातिरिक्तं फलं न ददातीति सूचितम् । तथा च सर्वात्मभावेन तदीयत्वमेव भक्तिमार्गे मोक्षपदार्थः । तदेवेतरलौकिकवैशिष्ट्यात्पारलौकिकमित्युच्यते । अतो नाऽनुपपन्नं किञ्चित् । श्रीभागवते च, “भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था” इति । पद्मपुराणेऽपि, ‘न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां च विद्यते । विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिण’ इति ।

[[किन्तु कोई ऐसा सोच सकता है कि, ऊपर हमने जो “सर्व यानि लौकिक-पारलौकिक सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं” यह वाक्य लिखा है, उसमें श्रवणकीर्तन आदि के द्वारा लौकिक-पारलौकिककार्य सभी कार्य सिद्ध हो जाने के अंतर्गत पारलौकिककार्य सिद्ध हो जाने का अर्थ ‘मोक्ष’ सिद्ध हो जाना लेना चाहिए, क्योंकि श्रीभागवत में भी तो “कीर्तनादेव कृष्णस्य(श्री० भा- 12/3/51)” इस वाक्य द्वारा श्रीकृष्ण का भजन करने के द्वारा मुक्त/मोक्ष हो जाने की बात बतायी गयी है !! और ऐसा अर्थ करने पर उसे प्रश्न यह होता है कि, जब उक्त श्रीभागवत में ही कृष्णभजन द्वारा मुक्त/मोक्ष हो जाने की बात बतायी गयी है, तो फिर यहाँ ये क्यों कहा जा रहा है कि, भगवदीयों को मोक्ष की अपेक्षा नहीं होती ?]] तो अब हम इस प्रश्न का समाधान कह रहे हैं। सबसे पहले तो ये समझ लीजिए कि यहाँ पारलौकिककार्य सिद्ध हो जाने का अर्थ लौकिकमोक्ष प्राप्त हो जाना नहीं है। अब ये भी समझ लीजिए कि उक्त श्रीभागवतवाक्य में कहे “कीर्तनात् एव(कीर्तन से ही)” शब्दों का अर्थ यह है कि, कलियुग में मोक्षप्राप्ति भी कीर्तन के बिना अन्य अतिरिक्त साधनों से नहीं हो सकेगी अपितु कीर्तन द्वारा ही होगी इसलिए कलियुग में भगवत्कीर्तन करना आवश्यक है; परन्तु इसका ये अर्थ नहीं है कि कीर्तन से एकमात्र मोक्षफल ही प्राप्त होता है और उसके अतिरिक्त अन्य कोई फल प्राप्त नहीं होता और भगवदीय मोक्षप्राप्ति के लिए कीर्तन करते हैं !! इसका ये अर्थ नहीं है, अपितु इस श्लोक का

वास्तविक तात्पर्य यह है कि, कीर्तन से मोक्षप्राप्त होना तो कीर्तन का अति सामान्यफल है और यदि मोक्षसाधन के तौर पर भगवत्प्रेमरहित कीर्तन करेंगे, तो केवल मोक्ष ही प्राप्त होगा, और मोक्षप्राप्ति की कामना रखे बिना भगवत्प्रेमसहित कीर्तन करेंगे, तो मोक्षप्राप्ति न होकर भगवत्प्राप्तिरूप फल प्राप्त होगा। यदि ऐसा न होता तो, भगवान भी "सालोक्यसार्ष्टिः(श्री०भा- 3/29/13)" इस प्रकार से क्यों कहते। इससे यह बात सूचित होती है कि, मोक्षप्राप्ति की कामना रखे बिना भगवत्प्रेमसहित कीर्तन करने वाले भगवदीयों को भगवान भजन का ही फल देते हैं भजन के अतिरिक्त और कोई फल नहीं देते। इन समस्त विवेचनों का फलितार्थ यह है कि, सर्वात्मभाव से तदीय हो जाने को ही भक्तिमार्ग में मोक्ष कहा जाता है। इसलिए लौकिकमोक्ष से विशिष्ट होने के कारण तदीयता को ही हमने ऊपर 'पारलौकिक' शब्द से कहा है, अतः पारलौकिककार्य सिद्ध हो जाने का अर्थ लौकिकमोक्ष प्राप्त होना नहीं समझ लेना चाहिए। इसलिए यहाँ कुछ भी अप्रामाणिक नहीं है। श्रीभागवत में भी यही बात "भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः(श्री०भा- 5/6/17)" इस वाक्य द्वारा कही गयी है। पद्मपुराण में भी यही बात "न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां" इस वाक्य द्वारा कही गयी है।

ननु तदीयत्वं भगवदनुग्रहैकसाध्यम् । “यमेवैष वृणुते तेन लभ्य” इति श्रुतेः । अतः कथं स्वकृतिसाध्यश्रवणादिना तत्सिद्ध्यतीत्यत आहुर्मोक्ष इति । यथोक्तरीत्या विष्णोः सकाशान्मोक्षः शिवतश्च भोगः सुलभस्तथा समर्पणेन स्वात्मप्रभृतिसर्वस्वनिवेदनेनाऽऽत्मनो जीवस्य तदीयत्वलक्षणो मोक्षो भवेदित्यर्थः । ध्रुवं निश्चितम् । नाऽत्र काचिदसम्भावनेति भावः । हीति युक्तोऽयमर्थः । 'अतदीयत्वकारणाभावात् ।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, तदीय बनना तो केवल भगवान के अनुग्रह से ही संभव बन सकता है, जैसा कि "यमेवैष वृणुते(कठो-1/2/23)" इस श्रुति में कहा भी गया है; फिर यहाँ ये कैसे कहा जा सकता है कि, जीव के अपने द्वारा किए गए श्रवणकीर्तन इत्यादि साधनों से तदीय बनना संभव हो जायेगा ? यदि ऐसी शंका होती हो, तो आपश्री इसका स्पष्टीकरण मोक्ष इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। इस पंक्ति द्वारा आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि, उपर्युक्त प्रकार से जिस प्रकार विष्णु के द्वारा मोक्ष मिलता है एवं शिव के द्वारा भोग प्राप्त होना सुलभ बनता है, उसी प्रकार समर्पण के द्वारा यानि अपनी आत्मा आदि सर्वस्व का भगवान को निवेदित कर देने से आत्मनः/जीव को तदीयत्वलक्षणरूपी मोक्ष प्राप्त होता है, यानि तदीय हो जाना ही एतन्मार्गीयमोक्ष है- यह अर्थ है। ऊपर की गयी शंका का समाधान अगली फक्किका में है। और यह बात ध्रुव है यानि निश्चित है। इसमें किसी भी प्रकार की असंभावना नहीं है- यह भाव है। हि शब्द इस अर्थ की युक्तता बताने के लिए आचार्यचरणों ने प्रयोग किया है; युक्त इसलिए क्योंकि जब जीव अतदीय न रह गया तो उसे मोक्ष मिलना ही है।

ननु समर्पणस्य तत्साधनत्वे श्रवणादिकथनस्य वैयर्थ्यमायाति, तस्य चाऽनुग्रहैकलभ्यत्वं न सिद्ध्यतीति चेत् । मैवम् । श्रवणमारभ्य सख्यपर्यन्तमागतस्य समर्पणं भवति । नाऽन्यथा । परस्परं हेतुहेतुमद्भावात् । अतस्तत्साधनत्वेन श्रवणादिकथनं साधुतमम् । किञ्च । आत्मनिवेदनं न स्वकृतिसाध्यम्, श्रवणादिजन्यत्वात् । किन्तु भगवदनुग्रहैकसाध्यम् । यतः श्रवणादि सर्व तदनुग्रहरूपमेव । भक्तिहेतुनिर्णये तथा निरूपितत्वात् । अतः सर्वमनवद्यम् ।

[[अब कोई ऐसी शंका करता है कि, यदि सर्वस्वसमर्पण करने से ही मोक्ष(भगवान का तदीय बन जाना)मिलता है, तब तो फिर जीव को श्रवणकीर्तन इत्यादि करने का उपदेश देना व्यर्थ हो गया, और साथ ही साथ ये बात बतायी भी गलत सिद्ध हो गयी कि- "जब भगवान जीव पर अनुग्रह करते हैं, तभी वह भगवान का तदीय बन पाता है" !! क्योंकि जब सर्वसमर्पण से ही तदीय बना जाता है तो फिर ऊपर कही "यमेवैष वृणुते(कठो-1/2/23)" इस श्रुति के अनुसार भगवान के अनुग्रह से ही तदीय बनने वाली बात भी सिद्ध नहीं हुई !!!]]..... नहीं, ऐसी शंका करनी ठीक नहीं है। वास्तव में तो जब जीव श्रवण से आरम्भ करके सख्यभक्ति तक पहुँचता है, तभी उसका सर्वस्वसमर्पण सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि श्रवणादि और समर्पण में परस्पर हेतुहेतुमद्भाव है, यानि ये दोनों क्रमशः कारण और कार्य हैं, अर्थात् श्रवणादि तो कारण हैं एवं इनसे होने वाला कार्य समर्पण है। अतः समर्पणप्रक्रिया में साधनरूप होने के तौर पर यदि श्रवणादि भक्ति के नौ प्रकारों को भी तदीय बनने में

कारणभूत मान लिया गया है और श्रवणकीर्तन करने का उपदेश दिया जा रहा है, तो यह बिल्कुल ठीक ही है। और, एक बात यह भी है कि, आत्मनिवेदन/समर्पण भी स्वकृतिसाध्य नहीं है क्योंकि आत्मनिवेदन करने का भाव तो श्रवणकीर्तन आदि करने के द्वारा ही उत्पन्न होता है; और आत्मनिवेदन कर पाना तो भगवदनुग्रह से ही प्राप्त हो सकता है। इसलिए जीव जो कुछ भी श्रवणकीर्तन आदि कर रहा है अथवा कर पा रहा है, तो उसे भगवदनुग्रहरूप ही मानना चाहिए, इस कारण ऊपर कही गयी "यमेवैष वृणुते(कठो-1/2/23)" इस श्रुति से कोई विरोध नहीं आता। भक्तिहेतुनिर्णय में भी यही बात बतायी गयी है। अतः हमने जो कुछ कहा, वह सभी कुछ प्रामाणिक ही है।

ननु तदीयत्वं मोक्षत्वेन कथं स्तूयते, जन्मान्तरे गत्यन्तरसम्भवेन तल्लक्षणाभावादिति चेत् । एवम् । यथा मोक्षे न पुनरावृत्तिर्भवति तथाऽत्र तदीयत्वे सिद्धे पुनरावृत्तिर्नैत्यपुनर्भवत्वं लक्षणमस्तीति न तथाऽवधेयम् । तदुक्तं प्रभुणैव “ये दारागारपुत्राप्तप्राणान्वितमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सह” इति । हित्वेति समर्पणानन्तरं दारादिषु स्वीयत्वपरित्याग उक्तः, न तु ज्ञानमार्गीयः । तत्र तु वैराग्योत्पत्तौ तेष्वसद्बुद्ध्या तत्परित्यागः स्वार्थमेव, न तु भगवदर्थम् । तथा सति स्वस्य भाराभावात् ‘कथं त्यक्तुमुत्सह’ इति तन्निर्बन्धं किमिति भगवान्वदेत् । अतो निवेदितात्मनः कदापि न त्यजति प्रभुरिति सिद्धम् ।

अब किसी को यहाँ एक शंका यह होती है कि, इस पुष्टिभक्तिमार्ग के सिद्धान्तानुसार तदीय बन जाने को मोक्ष कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि दूसरे जन्मों में यदि जीव को दूसरी गति प्राप्त हुई, तो यह बात मोक्ष के लक्षण से मेल नहीं खाती !! नहीं.....ऐसी शंका करनी ठीक नहीं है। बात ऐसी है कि, जिस प्रकार मोक्ष मिल जाने पर पुनरावृत्ति(पुनर्जन्म)होनी दूर हो जाती है, उसी प्रकार यहाँ पुष्टिभक्तिमार्ग में भी तदीय बन जाने पर पुनरावृत्ति नहीं होती, यानि तदीय बन जाने के पश्चात् जीव पुनः लौकिक में नहीं गिरता अतः उक्त शंका नहीं करनी चाहिए। ये बात प्रभु ने ही "ये दारागारपुत्राप्त(श्री0भा 9/4/65)" इस वाक्य द्वारा कही है। इस वाक्य में 'हित्वा' पद के द्वारा समर्पण के पश्चात् पत्नी-घरपरिवार के प्रति अपनेपन का परित्याग कर देना बताया गया है। ये वाला परित्याग ज्ञानमार्गीयपरित्याग नहीं है, क्योंकि ज्ञानमार्ग में तो वैराग्य हो जाने पर ज्ञानी की पत्नी-घरपरिवार इत्यादि में असद्बुद्धि हो जाती है, अर्थात् ज्ञानी परिवारजनों को मोक्षप्राप्ति में बाधक मानने लगता है और इसी कारण से उनका परित्याग करता है अतः ज्ञानमार्गीयपरित्याग तो खुद अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए किया जाने वाला परित्याग होता है, भगवान के लिए किया जाने वाला परित्याग नहीं; जबकि ऊपर कहे भागवतश्लोक में जो परित्याग बताया गया है, उसमें भक्त अपने परिवारजनों को असद् या अपने लिए बाधक मानते हुए उनका परित्याग नहीं करता अपितु मेरे परिवारजन भगवदीय हैं और उनका विनियोग भगवान के लिए ही होना चाहिए-ऐसा सोचकर वह उनके प्रति अपनी अहंता-ममता का परित्याग करता है, न कि परिवारजनों का ही। इसलिए ये समझिए कि, यदि उक्तश्लोक में बताया गया परित्याग ज्ञानमार्गीयपरित्याग होता, तो भगवान को अपने आप पर उनका कोई भार भी न होता और व्यर्थ में वे उनके लिए "ये सभी मेरे भरोसे हैं अतः मैं उन्हें कैसे छोड़ सकता हूँ?" ऐसा न कहते, यानि उक्त श्रीभागवतश्लोक में बताया गया परित्याग एतन्मार्गीयपरित्याग है। तभी तो भगवान ने उक्त श्लोक में अपने आप पर उनके उत्तरदायित्व का भार होना स्वीकार किया है और कहा है कि, मैं उन्हें नहीं छोड़ सकता। अतः यह सिद्ध होता है कि सर्वस्वनिवेदन कर देने वालों को प्रभु कभी भी नहीं छोड़ते और उनकी भूतल पर पुनरावृत्ति नहीं होती।

एवं भक्तिमार्गीयो मोक्षः ससाधनः प्रतिपादितः । यद्यपि मोक्षलक्षणे सिद्धेऽपि नाऽस्माकमुत्कर्षः समायातः कोऽपि । तथापि “अधिकं तत्राऽनुप्रविष्टं न तु तद्भानिरि”ति न्यायेन “तुष्यतु दुर्जन” इति न्यायेन वा तथोक्तम् । वस्तुतस्तु मोक्षेऽक्षरामृतपानमव्यक्तम्, अत्र तु तदधिकः परमानन्दानुभवो व्यक्तः, इति महत्तारतम्यम् ।

इस प्रकार से आचार्यचरणों ने यहाँ तक भक्तिमार्गीयमोक्ष साधनसहित प्रतिपादित किया। यद्यपि आपश्री ने लौकिकमोक्ष का लक्षण बताने में इतना परिश्रम किया तथापि इससे हम पुष्टिमार्गीयों के लिए तो कुछ विशेष सिद्ध नहीं हुआ क्योंकि हम पुष्टिमार्गीयों को तो लौकिकमोक्ष वांछित ही नहीं होता, परन्तु फिर भी आपश्री द्वारा लौकिकमोक्ष का प्रतिपादन करने

का कारण यह कि, "अधिकं तत्रानुप्रविष्टम्" इस न्यायानुसार एवं "तुष्यतु दुर्जनः" इस वाक्यानुसार भी चलो कोई ये न कहे कि आपश्री ने लौकिकमोक्ष का स्वरूप तो बताया ही नहीं; ये सोचकर आपश्री ने लौकिकमोक्ष के विषय में इतना कुछ कहा है। वस्तुतः तो लौकिकमोक्ष प्राप्त होने पर अक्षरामृतपान(अक्षरानन्द का अनुभव करना)को तो व्यक्त भी नहीं किया जा सकता क्योंकि इसप्रकारक मोक्ष में तो जीव का ब्रह्म में संपूर्णतया लय ही हो जाता है; अब लय ही हो गया तो किसी भी प्रकार के आनन्द को व्यक्त करने के लिए इन्द्रियाँ ही नहीं बचीं तो आनन्द किस प्रकार से व्यक्त किया जा सकेगा !! यह भाव है; जबकि उससे बढ़कर यहाँ इस पुष्टिभक्तिमार्ग में तो परमानन्द का अनुभव व्यक्त भी किया जा सकता है, क्योंकि एतन्मार्गीयमोक्ष में अलौकिक इन्द्रियाँ रहती हैं अतः आनन्द व्यक्त भी किया जा सकता है, यह भाव है- यह दोनों में बहुत बड़ा अंतर है।

ननु निवेदनमकृत्वाऽपि केचितदाश्रितास्तेषां का गतिरिति चेत्तत्राऽऽहुरतदीयतयेति ।

अतदीयतया चाऽपि केवलश्चेत्समाश्रितः ॥१८॥

तदीयत्वव्यतिरेकेणाऽपि केवलः समाश्रितश्चेत्तदा केवलाश्रयणेनाऽपि गतिर्भवत्येव । "मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिमि"ति वचनात् । न तावता तदीयत्वलक्षणो मोक्षः सिद्ध्यति, समर्पणाभावात् । न वा गतिप्राप्तौ तदाश्रयस्तिष्ठति, तस्योभयनिष्ठधर्मत्वात् । साधनत्वेन स्वीकाराच्च । अतो नाऽयं फलरूपभक्तिमार्गः, किन्तु साधनरूप एव । "न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः" । स्वर्गापवर्गनरकेष्वि"त्यादिवचनविरोधात् ॥१८॥

अब यहाँ पर एक प्रश्न यह होता है कि, कुछ ऐसे होते हैं जो भगवान को निवेदन किए बिना ही भगवान के आश्रित हो जाते हैं, यानि भगवान को अपना आश्रय मानते हैं- ऐसे जीवों की क्या गति होगी ? तो आचार्यचरण अतदीयतया इत्यादि वाक्यों से इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं- तदीय हुए बिना यदि केवल भगवान के आश्रित भी हो जाया जाय, तो भी, केवल आश्रय कर लेने से भी उसे भगवत्प्राप्ति होगी ही। क्योंकि यह बात "मेरे शरणागत होकर पापयोनि वाले, स्त्री, शूद्र चाहे जो कोई भी क्यों न हों, परमगति को प्राप्त हो जाते हैं(भ०गी- 9/32)" इस भगवद्वचन द्वारा सिद्ध होती है। किन्तु एक बात अवश्य है कि, तब उसका तदीयत्वरूप पुष्टिभक्तिमार्गीयमोक्ष सिद्ध नहीं होगा क्योंकि उसने एतन्मार्गानुसार समर्पण नहीं किया होता है। और देखने वाली बात यह है कि उपरोक्त गीतावाक्यानुसार जब परमगति को ही प्राप्त हो गए, तब तो आश्रय की सत्ता भी नहीं रह पायी क्योंकि परमगति को प्राप्त हो जाने के बाद आश्रय करने को अवकाश ही कहाँ है ? क्योंकि आश्रय का अवकाश तो तभी रह सकता है जब भगवान और भक्त दोनों हों, किन्तु यदि जीव परमगति को ही प्राप्त हो जाय, तो फिर आश्रय के लिए कैसे अवकाश रहेगा- यह अर्थ है। और एक बात यह भी है कि उसने आश्रय को साधन के रूप में स्वीकारा होता है जबकि भक्तिमार्ग में तो आश्रय को फल माना गया है। अतः जहाँ भक्त 'तदीय' नहीं बनता और आश्रय को फलप्राप्ति का केवल साधन समझकर भक्ति कर रहा है, तो उसे फलरूपभक्तिमार्ग नहीं समझना चाहिए, अपितु वह साधनरूप भक्तिमार्ग है। क्योंकि यदि इसे ही फलरूपभक्तिमार्ग समझ लेंगे, तो "न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा(श्री०भा-10/16/37)", "स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि(श्री०भा- 6/17/28)" इत्यादि वचनों से विरोध आ जायेगा ॥१८॥

ननु जीवानां स्वतो ज्ञानाभावात्तदाश्रयतदीयत्वे कथं सिद्ध्येतामित्याशङ्क्याऽऽहुस्तदाश्रयेति ।

तदाश्रयतदीयत्वबुद्ध्यै किञ्चित्सदाऽऽचरेत् ।

स्वधर्ममनुतिष्ठन् वै भारद्वागुण्यमन्यथा ।

इत्येवं कथितं सर्वं नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः ॥१९१/२॥

इति श्रीमद्वैश्वानरावतार श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितो बालबोधः सम्पूर्णः ।

तदाश्रयतदीयत्वयोर्बुद्धयै ज्ञानाय किञ्चिदाचार्योपसत्तिरूपं साधनं सदा निरन्तरमाचरेदित्यर्थः । तत एव तत्सिद्धिर्नाऽन्यथेति तस्याऽवश्यकर्तव्यत्वमाहुः स्वधर्ममिति । “स्वधर्ममनुतिष्ठन्वै लोकः क्षेमाय कल्पत” इति वचनात्स्वधर्माचरणे कृते फलं तत्तन्मार्गीयं भवति, न तु तदकरण इति सिद्धम् । भक्तिमार्गे च मुख्यः स्वधर्मस्तदुपसत्तिरेवेति सैव कर्तव्येति भावः । “आचार्यवान् पुरुषो वेदे”ति श्रुतेः । श्रीभागवतेऽपि “आचार्यं मां विजानीयान्नाऽवमन्येत कर्हिचित् । न मर्त्यबुद्ध्याऽसूयेत सर्वदेवमयो गुरुः” । अन्यच्च, “यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ । भक्तिर्न स्याच्छ्रुतं तस्य मन्ये कुञ्जरशौचवत्” । पुराणान्तरेऽपि, “हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गुरुमेव प्रसादयेत्” । अतस्तामन्तरेण कृतस्यापि साधनान्तरस्य वैफल्यमाहुर्भारद्वागुण्यमिति । अन्यथा तदकरणे भारद्वागुण्यं द्विगुणो भारो भवेदित्यर्थः । फलाभावात्साधनकृतः तदकरणप्रत्यवायकृतश्चेति भारद्वयम् ।

किन्तु यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि, जीवों को स्वतः तो कोई ज्ञान है ही नहीं, फिर उनमें तदाश्रय(भगवान का आश्रय करना) एवं तदीयत्व(भगवान का बन जाना)के भाव जाग्रत होने कैसे सिद्ध होंगे ? तो आचार्यचरण इसका समाधान तदाश्रय इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

इसमें आपश्री आज्ञा करते हैं- तदाश्रय एवं तदीयत्वबुद्धयै यानि इनका ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी आचार्य की शरणागति लेने रूप साधन सदा/निरन्तर करते रहना चाहिए। आचार्य की शरणागति करने से ही ये दोनों सिद्ध होंगे, अन्यथा नहीं, इसलिए इसकी अवश्यकर्तव्यता बताने के लिए आपश्री स्वधर्मम् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यह बात तो शास्त्र में भी “अनुतिष्ठन्वै लोकः क्षेमाय कल्पते(श्री०भा-३/१२/३१)” इस वचनानुसार सिद्ध होती है कि, स्वधर्म का आचरण करने पर ही उस-उस मार्गानुसार फल भी प्राप्त होता है, स्वधर्म का आचरण न करें तो नहीं होता। और, भक्तिमार्ग में तो मुख्यधर्म आचार्यों की शरणागति लेना ही है, अतः वही करनी चाहिए; जैसा कि “आचार्यवान् पुरुषो वेद(छान्दो-६/१४/२)” इस श्रुति में कहा भी गया है। श्रीभागवत में भी “आचार्यं मां विजानीयात्(श्री०भा-११/१७/२७)” यह कहा गया है एवं “हृदय में साक्षात् ज्ञान का दीपक जलाने वाले गुरुदेव भगवान ही हैं(श्री०भा-७/१५/२६)” यह कहा गया है। अन्य पुराणों में भी “हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता...प्रसादयेत्(स्कन्दपुराण/उत्तराखंड/ईश्वरपार्वतीसंवाद/गुरुगीता/७९)” यह कहा गया है। अतः आचार्य की शरणागति किए बिना अन्य साधन करने पर भी विफलता ही हाथ लगेगी- यह बताने के लिए आपश्री भारद्वागुण्यम् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। अन्यथा यानि आचार्य की शरणागति नहीं करेंगे, तो भार दोगुना हो जायेगा- यह अर्थ है; अर्थात् फलप्राप्ति न हुई होने के कारण व्यर्थ में अन्य दूसरे साधन करने का भार; और आचार्य की शरणागति न लेने का दोष मिला- यह दूसरा भार; यों दोगुना भार आ पड़ेगा।

उक्तमुपसंहरन्तीतीति । इतीति समाप्तौ । एवमुक्तप्रकारेण यावद्वक्तव्यं तावत्सर्वं कथितमित्यर्थः । ननु ततः किमत आहुर्नैतज्ज्ञान इति । एतज्ज्ञाने जाते सति पूर्वस्थितो भ्रमो गच्छति । गतः पुनः परावृत्य न भवतीत्यर्थः॥१९^१/_२॥

अब आपश्री ने जो कहा, उसका उपसंहार इति एवं कथितं सर्वं इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। इति का अर्थ है- अब यहाँ यह ग्रन्थ समाप्त होता है। आपश्री आज्ञा करते हैं- इस प्रकार जो ऊपर बताया, उससे हमें जो कुछ भी इस विषय में कहना था, वो सब कुछ कह दिया है। तो इससे क्या होगा ? यह आपश्री नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं; यानि आपश्री ने जो कुछ भी अब तक बताया, उसको जान लेने से पूर्व में जो भ्रम था, वह भ्रम दूर हो जाता है, और दूर हो जाने के पश्चात् पुनः उत्पन्न भी नहीं होता- यह अर्थ है ॥१९^१/_२॥

चतुर्द्धा लौकिको मोक्षः सदोषत्वान्निराकृतः ।

अतस्त्वलौकिको मोक्षः स्वीकार्यो भगवत्परैः ॥१॥

अन्ततोऽर्थोऽयमेवाऽस्य ग्रन्थस्य फलितोऽभवत् ।

चार प्रकार के मोक्ष दोषसहित होने के कारण आपश्री ने इस ग्रन्थ में उनका निराकरण कर दिया है,

अतः भगवत्परों को अलौकिकमोक्ष स्वीकार करना चाहिए- ॥१॥

अन्ततोगत्वा यही इस ग्रन्थ का फलितार्थ है।
एवमाचार्यकृपया बालबोधः प्रकाशितः ॥२॥

विविधमतनिरूढभ्रान्तिगूढस्वमार्ग-
प्रचलितजनतायाः सुस्थिरत्वाय यत्र ।

स्वमतमवददग्निर्बालबोधे तदर्थं
कुरुत मतिमवश्यं सप्रकाशे तदीयाः ॥३॥

इति श्रीदेवकीनन्दनचरणकृतौ बालबोधप्रकाशः समाप्तः।

इस प्रकार से आचार्यचरणों की कृपा से बालबोधग्रन्थ प्रकाशित हुआ ॥२॥
विविधप्रकार के मतों में निरूढ़ हो जाने से भ्रान्ति हो जाने के कारण अपने गूढस्वमार्ग से,
प्रचलित पुष्टिमार्गीयजनता को पुनः अपने मार्ग में सुस्थिर करने के लिए,
अग्निस्वरूप आचार्यों ने अपना मत बालबोधग्रन्थ में कहा,
इसलिए तदीयजनों को चाहिए कि इस ग्रन्थ में प्रकाशटीकासहित अपनी बुद्धि अवश्य लगाएँ ॥३॥
यह श्रीदेवकीनन्दनचरणकृत बालबोधप्रकाश समाप्त हुआ।

१ इतः परम् --

‘श्रीमल्लक्ष्मणसूनुना विरचितः पुष्ट्यर्थमोक्षप्रदो
भक्तानामुभयोस्तु तन्मतिमतां सर्वस्वमस्मिन् कलौ ।
श्रीमद्विठ्ठलदीक्षिताङ्घ्रिकमलप्रोन्मत्तसत्कालिना
श्रीमद्देवकि (?)नन्दनेन विवृतः श्रीबालबोधो मया॥’

इति पद्ममधिकमुपलभामहे

२. इतः परम् --

तारापण्डितानां द्वे पद्ये

“निजोद्धरणहेतवे कपटमानुषीमाश्रितस्तनुं सुरनरार्चितां विदितविट्ठलेशान्वये ।
असूत रघुनाथतो यमिह जानकीनन्दनं स एष जगदीश्वरो जयति देवकीनन्दनः ॥
तस्याऽऽज्ञया तत्कृतबालबोधप्रकाशसंज्ञो महनीयकीर्तिः ।
ताराभिधेनाऽयमलेखि रम्यो ग्रन्थो भवग्रन्थिविनाशिसेव्यः ॥”



श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।
श्रीमद्भगवद्गदनावतारश्रीमद्ब्रह्माचार्यचरणप्रणीतः

बालबोधः ।

श्रीपुरुषोत्तमचरणविवृतिसमेतः ।

जयन्ति श्रीमदाचार्यवाचोऽर्थामृतवर्षणैः ।
पुमर्थादिगतभ्रान्तितापो याभिर्निवारितः ॥१॥

श्रीमदाचार्यचरणों की वाणी सर्वोत्कृष्ट है, जिसने अर्थामृतरूपी वर्षा के द्वारा,
पुरुषार्थों के प्रति होने वाले भ्रान्तिरूप ताप का निवारण किया ॥१॥

नन्विहाऽनादौ संसारे केचन लोकायतिकास्त्यागभोजने प्रशंसन्ति । अन्ये पुनः स्वार्थमैश्वर्यादिकमेव बहु मन्यन्ते, वदन्ति च, “नमोऽस्तु राज्यवृक्षाय षाड्गुण्यगुरुशाखिने । सामादिचारुपुष्पाय त्रिवर्गफलदायिने” इति । अपरे कीर्त्यर्थमेव यतन्ते, वदन्ति च, “यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य पुण्या लोकेषु गीयते । तावद्वर्षसहस्राणि पुण्यलोके महीयते” इति । केचन पुनः कामानेव साधयन्ति, वदन्ति च, “शरीरस्थितिहेतुत्वादाहारसधर्माणो हि कामाः फलभूताश्च धर्मार्थयोस्सन्ति” । तथेतरे स्मार्त्ताद्याचारम्, वदन्ति च, “धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यत” इति । “आचारप्रभवो धर्मः” इति । “शौचाचारविहीनानां समस्ता निःफलाः क्रियाः” इति । अन्ये तु धर्म एव प्रवर्तन्ते, वदन्ति च, “मोक्षार्त्ते न प्रवर्तत तत्र काम्यनिषिद्धयोः । नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवायजिहासये”ति । केचन तपसि, “तपसा देवा देवतामग्र आयन्ति”त्यादिश्रुतेः । तथाऽन्ये साङ्ख्ययोगविदः संन्याससत्यशमदमादिषु, “न्यास इत्याहुर्मनीषिणः” इति, “सत्येन वायुरावाती”ति, “शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ती”ति, “दमेन दान्ताः किल्बिषमबधुन्वन्ती”ति श्रुतेश्च ।

अब यहाँ समझने में उलझन यह होती है कि, इस अनादि संसार में लोकायत मत को मानने वाले कुछ ऐसे होते हैं, जो केवल त्याग(?) और भोजन करने में ही जीवन का सुख मानते हैं। इससे ऊपर की कक्षा में अन्य कुछ ऐसे होते हैं, जो अपने लिए ऐश्वर्यादि भोग करने को ही सबसे अधिक मानते हैं; जैसा कि “राज्यरूपी वृक्ष को नमस्कार है, जिसकी छह भारी शाखाएँ हैं(संधि-विग्रह-यान-आसन-द्वैधीभाव-आश्रय), और साम-दाम-दंड-भेद ये चार पुष्प हैं और जिससे त्रिवर्गफल(धर्म-अर्थ-काम)प्राप्त होता है” इस वाक्य में कहा गया है। दूसरे इससे अधिक बढ़कर कीर्ति प्राप्त करने का ही प्रयत्न करते हैं, जैसा कि कहा भी गया है कि, “जब तक मनुष्य की भूलोक में कीर्ति गायी जाती है, उतने हजार वर्ष तक पुण्यलोक में उसकी महिमा गायी जाती है”। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे होते हैं जो केवल कामनाओं को ही सिद्ध करने में लगे रहते हैं, जैसा कि कहा भी गया है- “शरीर को टिकाए रखने के लिए जिस प्रकार भोजन आवश्यक होता है, वैसे ही काम भी आवश्यक है एवं धर्म और अर्थ का फलरूप भी है(वात्स्यायन कामसूत्र-1/2/37)”। उसी प्रकार कुछ अन्य स्मार्त आदि का आचरण करने को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, जैसा कि कहा भी गया है-“धर्म से 'अर्थ' और 'काम' दोनों सिद्ध होते हैं अतः धर्म का आचरण क्यों नहीं करते?”, “आचारप्रभवो धर्मः(विष्णुसहस्रनाम-138)” और “शौच-आचार रखे बिना समस्त क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं” इत्यादि। इनके अतिरिक्त अन्य कुछ ऐसे होते हैं, जो केवल धर्म में ही प्रवृत्त होते हैं, जैसा कि कहा भी गया है- “मोक्ष की इच्छा रखने वाले को काम्य और निषिद्धकर्मों में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए, और दोष न लगे तदर्थ नित्य-नैमित्तिक कार्य तो करने ही चाहिए”। कुछ तप में निष्ठा रखते हैं, जैसा कि “तपसा देवा देवतामग्र(महा0उप-22/1)” इस श्रुति में कहा गया है। उसी प्रकार सांख्ययोग को जानने वाले कुछ अन्य लोग संन्यास, सत्य, शम, दम आदि में निष्ठा रखते हैं, जैसा कि “न्यास इत्याहुर्मनीषिणः(महा0उप-23/1)”, “सत्येन वायुरायाति”, “शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति, दमेन दान्ताः किल्बिषमबधुन्वन्ति(महा0उप-22/1)” इत्यादि श्रुतियों में कहा भी गया है।

इतरे शिवमुपासते । अन्ये च विष्णुम् । ततस्ततश्च सकलां सिद्धिं मोक्षं चाऽऽहुः । प्रभुभिश्च भक्तिमार्ग उपदिष्ट इति किमसङ्ख्याताः पुमर्था, उत नियताः । यदि नियतास्तर्हि किं तुल्या उत गुणप्रधानभूताः । यदि गुणप्रधानभूतास्तर्हि गुणभूतानां साधनानां फलं प्रति समुच्चयो विकल्पो वा । व्यवस्थितिर्वा । फलं च किमेकमुताऽनेकम् । इति

सन्दिहानानां स्वानां सन्देहजनकं तत्र तत्रोपादेयताभ्रमं वारयितुं मङ्गलवाक्य एव मुख्यं फलं साधनव्यवस्थां च सूचयन्तस्तदितरस्य हेयत्वावबोधनार्थं पुमर्थप्रतिपादकसर्वशास्त्रसिद्धान्तसङ्ग्रहनिरूपणं प्रतिजानते नत्वेत्यादि ।

अन्य दूसरे शिव की उपासना करते हैं, तो कुछ विष्णु की, और यह मानते हैं कि उन-उन से समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होंगी एवं मोक्ष भी प्राप्त होगा। जबकि अपने श्रीमहाप्रभुजी ने तो भक्तिमार्ग का उपदेश दिया है; अतः उलझन यह होती है कि, क्या पुरुषार्थ असंख्य हैं या फिर नियत(निश्चित संख्या में) हैं ? यदि नियत हैं, तो क्या सभी पुरुषार्थ एक समान ही हैं या कोई प्रधान तो कोई गौण ? और यदि प्रधान या गौण हैं, तो ये चारों साधनीभूत पुरुषार्थ मिलकर फल सिद्ध करायेंगे या फिर इनमें से एक-एक पुरुषार्थ भी स्वतन्त्ररूप से फल दिला सकता है ? अथवा, क्या उन साधनों से फल मिलना निश्चित ही है ? फल भी एक ही प्राप्त होगा या अनेक फल प्राप्त होंगे ?- इस प्रकार से सन्देह करने वाले अपने स्वीयजनों के ऊपर कहे पुरुषार्थों को उपयोगी मान लेने के भ्रम का निवारण करने के लिए आपश्री ग्रन्थ के मंगलाचरण/प्रथमश्लोक में ही पुरुषार्थों से प्राप्त होने वाले मुख्यफल एवं उनके साधनों की व्यवस्था का सूचन करते हुए, और इसके अतिरिक्त अन्य दूसरे फलों को इससे हेय बताने के लिए पुरुषार्थों का प्रतिपादन करने वाले समस्त शास्त्रों के सिद्धान्तसंग्रह का निरूपण करने की प्रतिज्ञा नत्वा इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

नत्वा हरिं सदानन्दं सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहम् ।

बालप्रबोधनार्थाय वदामि सुविनिश्चितम् ॥१॥

अत्र हरिं सदानन्दमिति पदद्वयेन दुःखाभावार्थं भजतां फलान्तरार्थं च भजतां “फलमत उपपत्तेरिति न्यायसिद्धं फलदातृत्वं स्वतः पुरुषार्थत्वेन भजतां च “यो वै भूमा तत्सुखम्”, “कृषिर्भूवाचकः शब्दः”, “ब्रह्मविदाप्नोति परं” मित्यादिश्रुतिभिः “जगद्व्यापारवर्जम्” त्यादिन्यायैश्च सिद्धं, परमानन्दरूपफलात्मकत्वं च बोधितम् । नत्वेत्यनेन दैन्यपूर्वकभजनस्योपलक्षणविधया साधनत्वं बोधितम् । तावता “मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः । मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत्कुतस्तद्विषयात्मनाम्”, “भगवान् ब्रह्म कात्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया । तदध्यवस्यत्कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवेदि” त्यादिनिर्णीता मुख्यफलसाधनव्यवस्था च सूचिता ।

श्लोक में '(1)हरि' एवं '(2)सदानन्द' इन दो पदों के द्वारा आपश्री ने क्रमशः (1)हरि पद कहने के द्वारा- दुःख दूर करने के लिए भगवद्भजन करने वाले जीवों के लिए एवं अन्य फल की इच्छा से भगवद्भजन करने वाले जीवों के लिए भगवान की फलदातृता सूचित की है, जो कि "फलमत उपपत्तेः(ब्र0सू-3/2/28)" इस सूत्र द्वारा सिद्ध की गयी है, और (2)सदानन्द पद कहने के द्वारा- भगवद्भजन को स्वतःपुरुषार्थरूप मानकर भगवद्भजन करने वाले जीवों के लिए भगवान की परमानन्दरूपफलात्मकता भी सूचित की है, जो कि "यो वै भूमा(छा0उप- 8/23/1)", "कृषिर्भूवाचकः शब्दः(गो0पू0ता0उप0-1/1;महाभारत/उद्योगपर्व/70/5)", "ब्रह्मविदाप्नोति परं(तैत्ति0उप-2/1/1)" इत्यादि श्रुतियों एवं "जगद्व्यापारवर्जम्" इत्यादि वाक्यों में बतायी गयी है। भगवद्भजन को स्वतःपुरुषार्थरूप से भजन करने का अर्थ है- भगवद्भजन स्वयं अपने आप में ही एक पुरुषार्थ है; भगवद्भजन के द्वारा कुछ अन्य फल पाने की इच्छा न रखनी अपितु भगवद्भजन को ही फलरूप मानना। भगवान की परमानन्दरूपफलात्मकता का अर्थ है- भगवान का अपना परमानन्द फल के रूप में अपने भक्तों को देना। नत्वा शब्द से आपश्री ने उपर्युक्त फलों को प्राप्त करने में सांकेतिकरूप से दैन्यपूर्वक भगवद्भजन करने को साधन बताया है। तात्पर्य यह कि नत्वा हरिं सदानन्दं इत्यादि शब्दों द्वारा आपश्री ने "मय्यर्पितात्मनः सम्यक्(श्री0भा-11/14/12)" , "भगवान् ब्रह्म कात्स्न्येन(श्री0भा-2/2/34)" इत्यादि वाक्यों में बताया गया मुख्यफल एवं उसके साधन की व्यवस्था सूचित की है यानि 'सदानन्द हरि' पद से मुख्यफल सूचित किया है और 'नत्वा' पद से ऐसे सदानन्द हरि को प्राप्त करने का दीनतारूपी साधन सूचित किया है- यह अर्थ है।

एवं मङ्गलं विधाय विषयमाहुः सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहमिति । सर्वेषां पुमर्थप्रतिपादकानामुपादेयानां हेयानां च शास्त्राणां यः सिद्धान्तः फलसाधननिष्कर्षस्तेषां सम्यक् ग्रहो ज्ञानं येन तादृशं ग्रन्थम् । सङ्ग्रहं समासं वा । व्यासेन कथने

ग्रन्थबाहुल्याद् वृथाकालक्षेपबुद्धिक्षोभयोः सम्भवादिति द्वारकेश्वराः । यद्यपि तत्तच्छास्त्रैरपि तत्तन्मतज्ञानं भवति, तथापि, तत् भ्रान्तिसंवलितमेव तद्वक्तृणां प्रतारकत्वात्तेषां तथात्वं च तथैवेश्वरशिक्षयेति देवकीनन्दनाः ।

इस प्रकार से मंगलाचरण करके अब आपश्री प्रस्तुत विषय के बारे में सर्वसिद्धान्तसंग्रह इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री यह कह रहे हैं कि, समस्तपुरुषार्थों का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों का सिद्धान्त, यानि कि उपयोगी एवं हेय दोनों प्रकार के शास्त्रों का जो सिद्धान्त है, अर्थात् जो उनके फल-साधन का निष्कर्ष है, उसका भलीभाँति ज्ञान हो जाय, इस प्रकार से उनका संग्रह करके आपश्री कह रहे हैं। अथवा सर्वसिद्धान्तसंग्रह का अर्थ यह समझ लें कि, समस्त सिद्धान्तों को संग्रहीत करके आपश्री संक्षेप में कह रहे हैं। जैसा कि द्वारकेश्वरजी ने भी कहा कि-"यदि विस्तार करके कहते तो ग्रन्थ बहुत बड़ा हो जाता जिससे व्यर्थ में समय नष्ट होता और पाठक की बुद्धि उद्विग्न हो जाती"। इस विषय में देवकीनन्दनजी ऐसा कहते हैं कि- "यद्यपि उन-उन शास्त्रों के द्वारा भी उन-उन मतों का ज्ञान होता है, तथापि, वो सारे मत भ्रान्तिपूर्ण ही हैं एवं उन मतों का प्रतिपादन करने वाले भी भ्रम कराते होने के कारण उन शास्त्रकारों को आचार्यचरणों ने भ्रामक बताया है। ऐसा इसलिए क्योंकि ईश्वर ने उन्हें इसी ढंग से प्रतिपादन करने को कहा था"।

यद्यपि मन्वादीनां कपिलादीनां च न प्रतारकत्वं तथापि "धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परम" इति वाक्याज्जघन्याधिकारकतन्त्रिरूपणादिना मुख्याधिकारिणः प्रति फलतस्तथात्वमिति तेषामाशयः ।

यद्यपि इन पुरुषार्थों का प्रतिपादन तो मनु एवं कपिलजी जैसे श्रेष्ठ लोगों ने भी किया है, परन्तु, देवकीनन्दनजी का अभिप्राय इनको भ्रामक बताना नहीं है, वस्तुतः यहाँ समझने वाली बात यह है कि, श्रीभागवत के "व्यासजी के द्वारा इस श्रीमद्भागवतपुराण में मोक्षपर्यन्त फल की कामना से रहित परम भागवतधर्म का निरूपण हुआ है, अब अन्य किसी साधन या शास्त्रों से क्या प्रयोजन ? (श्री० भा-१/१/२)" इस वाक्यानुसार मुख्य तो भागवतधर्म ही है, जबकि मनु एवं कपिलजी आदि ने तो भागवतधर्म से भिन्न जघन्याधिकारियों के लिए पुरुषार्थों का निरूपण किया है अतः यदि मनुकपिलजी आदि द्वारा कहे पुरुषार्थों से प्राप्त होने वाले फलों के दृष्टिकोण से देखा जाय तो उनके द्वारा किया गया पुरुषार्थों का निरूपण मुख्याधिकारियों के लिए भ्रामक बन जाता है, क्योंकि मनु, कपिल आदि ने उक्त श्रीभागवतश्लोकानुसार भागवतधर्म को श्रेष्ठ मानने वाले मुख्याधिकारियों के लिए इनका निरूपण नहीं किया है अपितु जघन्याधिकारियों के लिए किया है- यह श्रीदेवकीनन्दनजी का आशय है।

प्रयोजनमाहुर्बालप्रबोधनार्थायेति । बालाः स्वतो हिताहितानभिज्ञतया शुद्धभावेन च दयापात्राणि । तेषां प्रकर्षेण बोधनमितरफलसाधनविषयकोपादेयताभ्रमनिरासेन यथाधिकारं भक्तौ प्रपत्तौ वा प्रवेशनसमर्थबोधोत्पादनम् । तेन योऽर्थस्तदुद्धारस्तदर्थमित्यर्थः । प्रकारमाहुः सुविनिश्चितमिति । सुष्ठु वेदादिप्रमाविशेषत एकाग्र्येण निश्चितं निर्द्धारितम् । तेन तत्तत्सिद्धान्तमात्रं नोच्यते, किन्तु तत्सङ्ग्रह तेषामुत्कृष्टमपकृष्टं वा यद्यस्य स्वरूपं वेदाद्यविरोधेन सिद्ध्यति तदत्र बोध्यत इति प्रकारो दर्शितः ॥१॥

आपश्री उन समस्त पुरुषार्थों का निरूपण करने का प्रयोजन बालप्रबोधनार्थाय इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री का कहना यह है कि, बालक अपने हित-अहित से अनभिज्ञ होते हैं एवं उनका भाव शुद्ध होने के कारण वे दया के पात्र होते हैं। उनका प्रबोधन करने का तात्पर्य है- आपश्री के मत से भिन्न अन्य फल-साधनों को उपयोगी मान लेने के भ्रम का निराकरण करके उन्हें उनके अधिकारानुसार भक्ति या प्रपत्ति में प्रविष्ट होने में उन्हें समर्थ बनाने वाला ज्ञान उनमें उत्पन्न कर देना। इस प्रकारक प्रबोधन के द्वारा जो उनका उद्धार होगा, वह उद्धार करने के लिए आपश्री उनका प्रबोधन कर रहे हैं। आपश्री किस प्रकारक प्रबोधन उन्हें करायेंगे- यह सुविनिश्चितम् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसका अर्थ है- वेदादि के सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए विशेषरूप से एकाग्रचित होकर निश्चित किया हुआ, निर्धारित किया हुआ सिद्धान्त उन्हें बता रहे हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि, आपश्री उन समस्त मतों का मात्र सिद्धान्त ही नहीं रहे हैं, किन्तु उन्हें संग्रहीत करके उनकी उत्कृष्टता या अपकृष्टता भी कह रहे हैं, यानि जैसा जिसका स्वरूप वेद आदि से विरुद्ध न जाता हुआ सिद्ध होता है, वैसा सिद्धान्त बता रहे हैं। यों आपश्री ने अन्य मतों का सिद्धान्त बताने का प्रकार दिखाया ॥१॥

एवं प्रकारं फलसम्बन्धं च बोधयित्वा प्रथमतः पुरुषार्थविषयकं सन्देहमपाकर्तुं तन्निश्चयं सङ्गृहेणाऽऽहुर्धर्मेत्यादि ।

धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्रित्वारोऽर्था मनीषिणाम् । जीवेश्वरविचारेण द्विधा ते हि विचारिताः ॥२॥

चत्वार इति सङ्ख्यया मनीषिणामिति यथार्थविषयग्रहणसमर्थबुद्धिमद्वाचकपदेन च नानापुरुषार्थवादो भ्रान्तप्रतिपन्नत्वादनुपादेय इति बोधितम् । धर्मेत्याद्याख्याकथनेन पुरुषार्थदेवतावत्त्वबोधनाद्धर्मादिरूपेणैव पुरुषार्थता न यज्ञादिरूपेणेत्यपि सूचितम् ।

इस ढंग से, आपश्री समस्त मतों को किस प्रकार से कहेंगे और उन-उन मतों का कौन से फलों से सम्बन्ध होगा- यह बात बता कर अब प्रथमतः पुरुषार्थों के प्रति होने वाले सन्देहों को दूर करने के लिए उनका संग्रह करने के द्वारा उन पुरुषार्थों का निश्चय धर्म इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं, पुरुषार्थों को निश्चयपूर्वक बताने का अर्थ है- वे हेय हैं या उपादेय हैं, यह बताना। श्लोक में आपश्री ने चत्वारः(चार)शब्द से पुरुषार्थों की कुल संख्या चार बतायी है और मनीषिणाम्(विद्वान्)पद के द्वारा यथार्थविषय का ग्रहण करने में समर्थ बुद्धि वाले कहे हैं, जिसके द्वारा आपश्री ने यह बताया है कि, यदि ऐसे विद्वानों ने पुरुषार्थों की कुल संख्या चार ही बतायी है, तो फिर अनेक पुरुषार्थ बताने वाले वाद भ्रामक होने के कारण हमारे लिए उपयोगी नहीं हैं। साथ ही साथ आपश्री ने पुरुषार्थों को धर्म-अर्थ इत्यादि उनके नाम(आख्या)लेकर कहा है, जिससे आपश्री यह सूचित कर रहे हैं कि धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का देवतारूप ही वास्तव में पुरुषार्थ है, इनको सिद्ध करने के लिए किए जाने वाले यज्ञ-कर्म आदि पुरुषार्थ नहीं हैं। उदाहरण के रूप में 'अग्नि'। अग्नि का वह स्वरूप जिससे कि रसोई आदि बनायी जाती है, वह उसका भौतिकस्वरूप है परन्तु अग्नि का एक देवतारूप भी है, जो कि अग्नि का मुख्यस्वरूप है। ठीक इसी प्रकार श्रीपुरुषोत्तमचरण यहाँ यह कहना चाह रहे हैं कि यद्यपि यज्ञ एवं उसमें उपयोगी साधनों द्वारा धर्म आदि पुरुषार्थ सिद्ध किए जाते हैं, परन्तु यज्ञ को ही पुरुषार्थ नहीं समझ लेना चाहिए अपितु धर्म आदि पुरुषार्थों का जो देवतारूप है, उन्हें ही वास्तविक एवं मुख्यपुरुषार्थ समझना चाहिए।

देवकीनन्दनास्तु अत्र केवलार्थपदालौकिका एव चत्वारोऽनुपादेयत्वायोच्यन्त इति पुरुषार्थाभासत्वबोधनायाऽऽख्यापदमित्याहुः, तेन तेषां मते वैदिकानां मर्यादामार्गे पुरुषार्थता । भक्तिमार्गे तेऽप्यनुपादेया इति भक्तिमार्गोत्कर्षमात्रबोधनार्थः सर्वो ग्रन्थः । द्वारकेश्वराणां मते त्वन्येषां निष्कर्षबोधनार्थ इति विशेषः ।

देवकीनन्दनजी ने तो इस संदर्भ में यह कहा है कि- "आचार्यचरणों ने इस श्लोक में पुरुषार्थ न कहकर इन्हें केवल 'अर्थ' कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि ये चारों लौकिकपुरुषार्थ ही हैं और हमारे लिए अनुपादेय भी हैं, इसलिए इनमें तो पुरुषार्थों का मात्र आभास है, यह बताने के लिए आपश्री ने 'आख्या(नाम)' पद का प्रयोग किया है"। इसलिए देवकीनन्दनजी के मतानुसार वैदिकपुरुषार्थों की पुरुषार्थता तो मर्यादामार्ग में है, जबकि हमारे भक्तिमार्ग में तो वे भी अनुपादेय ही हैं, इसलिए यह पूरा ग्रन्थ आचार्यचरणों ने मात्र भक्तिमार्ग का उत्कर्ष बताने के लिए लिखा है। जबकि द्वारकेश्वरजी के मतानुसार तो अन्य शास्त्रकारों द्वारा बताए गए पुरुषार्थों का निष्कर्ष बताने के लिए आचार्यचरणों ने यह ग्रन्थ लिखा है, यह इन दोनों आचार्यों के मत में अंतर है।

तत्र धर्मो नाम चोदनालक्षणोऽर्थः । चोदना च "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" "न हिंस्यात्सर्वा भूतानी"त्यादिविधिनिषेधभेदेन द्विविधा । तेन धर्मोऽपि बाह्यक्रियात्मा निवृत्त्यभिसन्धिरूपान्तरक्रियात्मा च सामान्यतः प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदेन च द्विविधः । अर्थस्तु स्रक्चन्दनवनिताभरणगृहादिभेदेनाऽनन्तविधः । कामोऽपि तत्तदिन्द्रियविषयभोगात्माऽनन्तविधः । मोक्षस्तु विश्वमायानिवृत्तिरूपेण स्वरूपलाभरूपेण वा एकविध एव । अवान्तरतन्त्रभेदेन बहुविधं ते ते आहुः ।

चोदनालक्षण अर्थ को धर्म कहते हैं (जै0कर्ममीमांसा 1/1/2) और चोदनालक्षण(प्रेरणा देनी)तो "(1) स्वर्ग की कामना रखने वाले को ज्योतिष्टोम करना चाहिए(सामवेद/ज्योतिष्टोम/तांड्यब्राह्मण/खंड18/7)", "(2)हिंसा नहीं करनी चाहिए

(महा०/शान्तिपर्व/मोक्षधर्म/278/5 यद्यपि उक्त महाभारतवाक्य में 'सर्वभूतानि' पाठ है, जबकि मूलग्रन्थ में 'सर्वाभूतानि' पाठ है-अनुवादक) इत्यादि वाक्यों के अनुसार विधि-निषेध के भेद से दो प्रकार का होता है, यानि वेद किन्हीं कार्यों को करने का विधान करता है और किन्हीं कार्यों को करने का निषेध करता है। वेद द्वारा विधान करने या निषेध करने की प्रेरणा देने को 'चोदनालक्षण' कहते हैं। वेद जिस कार्य को करने की प्रेरणा देता हो, उस कार्य को 'धर्म' कहते हैं और जिस कार्य का निषेध करने की प्रेरणा देता हो, उसे 'अधर्म' कहते हैं- यह अर्थ है। उपरोक्त (1) और (2) उदाहरणों में से (1) वाले उदाहरण में वेद ने कार्य करने की प्रेरणा दी है और (2) वाले उदाहरण में निषेध करने की प्रेरणा दी है- यह अर्थ है। इस बात से यह समझना चाहिए कि करने योग्य बाह्यक्रियाएँ और न करने योग्य आन्तरक्रियाओं के अनुसार धर्म भी सामान्यतः प्रवृत्ति और निवृत्ति के भेद से दो प्रकार का होता है। अर्थ से तात्पर्य है- माला, चन्दन, स्त्री, आभूषण, घर, संपत्ति इत्यादि अनन्त वस्तुएँ। काम भी प्रत्येक इन्द्रियों द्वारा विषयभोगरूप होने के कारण अनन्तविध है। अब जहाँ तक मोक्ष प्राप्त होने का प्रश्न है, तो कोई मोक्षप्राप्ति का अर्थ या तो जगत में फैली भगवान की माया निवृत्त होनी मानते हैं, अथवा तो जीवात्मा को अपने स्वरूप का वास्तविकज्ञान हो जाना मानते हैं अतः मोक्ष तो एक ही प्रकार का होता है। साररूप में धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का स्वरूप यही है, परन्तु, अन्यान्य शास्त्रों में इन चारों पुरुषार्थों को ही अनेक प्रकार का कह दिया जाता है।

तथापि स्वरूप एव भेदो न तु नाम्नीत्याख्यापदम् । अर्थ्यन्ते मे सन्त्विति स्वसम्बन्धितया इष्यन्त इत्यर्थः । तेनैतेषां पुरुषार्थत्वप्रयोजकं रूपमुक्तम् । एवं पुरुषार्थान्निष्कृष्य तुल्यातुल्यत्वसन्देहनिरासाय तदवान्तरभेदं विवेक्तुमाहुर्जीवेत्यादि । हि यतो हेतोस्ते जीवैरीश्वरेण च कृतो यो विचार उपपत्तिभिः समर्थनेन तत्स्वरूपादिनिश्चयस्तेन विचारिता निर्धारिता, अतो विचारकृतप्रकारेण द्विधा सन्तीत्यर्थः । तथा च यद्यपि वेद एकस्तथापि तदर्थभानभेदात्तेषां द्वैविध्यमिति भावः । ईश्वरपदेन वेदो गृह्यत इति द्वारकेश्वराः ॥२॥

यद्यपि इन चारों पुरुषार्थों को ही अनेक प्रकार का कह दिया गया है, तथापि, उन सभी भिन्न-भिन्न मतों से केवल इनके स्वरूप में ही भेद आता है, नाम में नहीं, इनके नाम तो सभी स्थलों पर एक ही हैं अतः आपश्री ने मूलश्लोक में इन पुरुषार्थों के संग 'आख्या(नाम)' पद जोड़ कर कहा है। किसी वस्तु/पदार्थ की चाहना करनी अथवा तो "यह वस्तु मेरी हो जाय" इस प्रकार से चाहना करने को 'अर्थ' कहते हैं, इससे आचार्यचरणों ने समस्त पुरुषार्थों का मूल प्रयोजक उक्त प्रकार से चाहना करने को बताया है। इस प्रकार से पुरुषार्थों का निरूपण करके अब आचार्यचरण अन्य मतों में कहे पुरुषार्थ परस्पर समान हैं या छोटे-बड़े हैं- इस सन्देह का निराकरण करने के लिए इन पुरुषार्थों के अवान्तरभेद बताने के लिए जीवेश्वरविचारेण द्विधा ते हि विचारिताः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- चूँकि इन पुरुषार्थों का जीव और ईश्वर दोनों ने विचार किया है, यानि युक्तियों द्वारा अपने मत का समर्थन करते हुए इन पुरुषार्थों के स्वरूप आदि का निश्चय किया है और निश्चित करके विचारित किया है, निर्धारित किया है, अतः उन दोनों के द्वारा विचार किए जाने के कारण पुरुषार्थ दो प्रकार के हैं- यह अर्थ है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि, यद्यपि वेद तो एक ही है, परन्तु जिसे वेद के अर्थ का भान जो और जिस प्रकार से हुआ, उसने उस प्रकार से इनका निरूपण किया, इसलिए ये पुरुषार्थ दो प्रकार के माने गए हैं- यह भाव है। यहाँ ईश्वर पद से वेद समझने चाहिए- ऐसा द्वारकेश्वरजी ने कहा है ॥२॥

एवं द्वैविध्यमुपपाद्य ईश्वरविचारितानां स्वरूपमाहुरलौकिका इत्यादि ।

अलौकिकास्तु वेदोक्ताः साध्यसाधनसंयुताः ।

लौकिका ऋषिभिः प्रोक्तास्तथैवेश्वरशिक्षया ॥३॥

तुर्जीवविचारितपक्षनिरासे । अलौकिका वक्ष्यमाणलौकिकविलक्षणस्वरूपाः । वेदोक्ता वेदादेव प्रमिताः । साध्यसाधनसंयुताः, साध्यमवान्तरपरिकरादि, साधनमुपायः, ताभ्यां सम्यग्युताः, अव्यभिचारितसाध्यसाधनभावा इत्यर्थः । यों पुरुषार्थों को दो प्रकार का कह कर अब ईश्वर द्वारा विचारित पुरुषार्थों का स्वरूप आचार्यचरण अलौकिकाः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

'तु' शब्द बताता है कि, यहाँ जीवविचारित पुरुषार्थों की चर्चा न होकर ईश्वरविचारित पुरुषार्थों की चर्चा की जा रही है। अलौकिकपुरुषार्थों का अर्थ है- अभी तक कहे गए लौकिकपुरुषार्थों की तुलना में ये पुरुषार्थ विलक्षण हैं। वेदोक्ता का अर्थ है- वेद

के द्वारा ही जो पुरुषार्थ प्रमाणित हैं, उन पुरुषार्थों को वेद में साध्यसाधनसंयुताः यानि उनके 'साध्य' और 'साधन' के सहित कहा गया है। साध्य का अर्थ है- अवान्तर परिकर एवं साधन का अर्थ है- उपाय। आपश्री आज्ञा करते हैं- वेद में कहे अलौकिकपुरुषार्थ उनके साध्यसाधन के सहित कहे गए हैं, यानि वे साधन अपरिवर्तित निश्चितरूप से कहे गए हैं- यह अर्थ है।

तद्यथा । “ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते”त्यादिवेदवाक्येभ्यो यागाद्यात्मा धर्मः प्रमितो भवति । तदवान्तरपरिकरोपायादिकमपि “अरुणया एकहायन्या गवा पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति”, “वारणो यज्ञावचरो वैकङ्कतो यज्ञावचर” इत्यादिश्रुत्यैव प्रमितं तदुक्त्यैवाऽऽनुपूर्व्या यज्ञादिरूपं धर्ममव्यभिचारेण साधयति । तथा “उद्भिदा यजेत पशुकाम” इत्यादिश्रुतिभिः प्रमितोऽर्थोऽपि तदुक्तप्रनाड्यैव सिद्ध्यति । तद्वत् छान्दोग्ये वामदेव्यसामोपासनायां छान्दोग्ये बृहदारण्यके च पश्चाग्न्युपासनायां रसब्राह्मणे च “उपमन्त्रयते सहिङ्कार” इत्यादिना ‘पुरुषो वा गौतमाग्निरिति’, “योषा वा अग्निगौतम”, “एषां वै भूतानां पृथिवी रस” इत्युपक्रम्य “स स्त्रियं ससृजे तां सृष्ट्वाऽथ उपास्त” इत्यादिना च प्रमितः कामोऽपि तदुक्तरीत्या सिद्ध्यति । एवं “ब्रह्मविदाप्नोति परमि”त्यादिना मैत्रेयीब्राह्मणादिना च प्रमितो मोक्षोऽपि पुष्टिमर्यादाभेदेन यथाधिकारमुक्त्या प्रनाड्या सिद्ध्यति । तत्तत्साधनानि न व्यभिचरन्ति । द्वारकेश्वरा अप्येवमेवाऽऽहुः । देवकीनन्दनास्तु “धर्मस्य ह्यापवर्गस्ये”ति प्रथमस्कन्धीयार्थसङ्ग्राहकस्य “धर्मो ह्यर्थेन साधित” इत्यस्य स्वास्यादन्योऽपि साध्यसाधनभावः सङ्गृह्यत इत्याहुः ।

अलौकिकपुरुषार्थों को उसके साध्यसाधनों सहित वेद में बताया होने का अर्थ यह कि “ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत(सामवेद/ज्योतिष्टोम/तांड्य ब्राह्मण/खंड 18/7)” इत्यादि वेदवाक्यों द्वारा यज्ञरूपी धर्मपुरुषार्थ करना प्रमाणित/ज्ञात होता है यानि यज्ञ करना धर्मपुरुषार्थरूप है। यज्ञ संपन्न करने के लिए यज्ञ में उपयोगी अवान्तर परिकरों की भी आवश्यकता होती है, जैसे 'सोम', 'अग्नि', 'घृत' इत्यादि; ये (1)अवान्तर परिकर हैं- साध्य। उन अवान्तर परिकरों को किस प्रकार से इकट्ठा करना चाहिए, उन (2)उपायों को साधन कहते हैं- यह श्रीपुरुषोत्तमचरणों का अभिप्राय है। इन साध्यों को जुटाने के लिए भी वेद में उपाय बताए गए हैं, जिसे श्रीपुरुषोत्तमचरण आगे बता रहे हैं। और यज्ञ के (1)अवान्तर परिकर क्या हैं और उन्हें इकट्ठा करने का (2)उपाय भी श्रुतियों में बताया गया है; उदाहरण के रूप में जैसे यज्ञ में उपयोगी अवान्तर परिकर 'सोम' यदि लाना हो, तो उसका उपाय श्रुति में यह बताया गया है कि, “लाल वर्ण की पीली आँखों वाली एक वर्ष की आयु की गाय देकर बदले में सोम खरीद लाना चाहिए” और इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार भी “वारणो यज्ञावचरो” इत्यादि श्रुतियों द्वारा बताया गया है; इन श्रुतियों में कहे अनुसार ही जब यज्ञ किया जायेगा, तब यज्ञरूपी धर्मपुरुषार्थ व्यवस्थितरूप से सिद्ध होता है। इसी प्रकार अर्थपुरुषार्थ प्राप्त करना भी वेद से ही सिद्ध होता है; जैसे कि “जिसे पशु की कामना हो, उसे उद्भिद-यज्ञ करना चाहिए” इत्यादि श्रुतियों द्वारा प्रमाणित/ज्ञात हुआ अर्थपुरुषार्थ भी ऊपर बतायी गयी यज्ञ की प्रणाली द्वारा ही सिद्ध होता है। उसी प्रकार कामपुरुषार्थ भी वेदवचनों द्वारा सिद्ध होता है, जैसे कि छान्दोग्य में वामदेव द्वारा की गयी सामोपासना की प्रक्रिया के अंतर्गत एवं छान्दोग्य और बृहदारण्यक दोनों के अन्तर्गत पञ्चाग्नि उपासना में और रसब्राह्मण में “उपमन्त्रयते(छा0उप- 2/13/1)” इत्यादि श्रुतियों द्वारा एवं इसी प्रकार “पुरुषो वा अग्निगौतम(बृहदा-6/2/12)”, “योषा वा गौतमाग्निः(बृहदा-6/2/13)”, “एषा वै भूतानां(बृहदा-6/4/1)” इत्यादि श्रुतियों से लेकर “स स्त्रियं ससृजे(बृहदा-6/4/2)” इत्यादि श्रुतियों द्वारा प्रमाणित/ज्ञात हुआ कामपुरुषार्थ भी इन श्रुतियों में बतायी साध्यसाधनों सहित प्रणाली द्वारा सिद्ध होता है। इसी प्रकार “ब्रह्मविदाप्नोति परं(तैत्ति0उप-2/1/1)” इत्यादि श्रुतियों द्वारा याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी के संवाद वाले प्रकरण के माध्यम से ज्ञात हुआ मोक्षपुरुषार्थ भी पुष्टिमर्यादाभेद से, यानि जिसका जैसा अधिकार हो वैसे, ऊपर की श्रुति में बतायी प्रणाली द्वारा सिद्ध होता है। इन सभी श्रुतियों में बताए साधन वही के वही रहते हैं, बदलते नहीं और उन्हीं साधनों के द्वारा ये सभी पुरुषार्थ प्राप्त होते हैं। द्वारकेश्वरजी ने भी यही कहा है। देवकीनन्दनजी ने तो “धर्मस्य ह्यापवर्गस्य(श्री0भा-1/2/9)” इस

१. यज्ञाविचर इति। २. प्रमितः इति। ३. तदुक्त्यैवाऽऽनुपूर्व्या यज्ञादिरूपं साध्यं धर्ममव्यभिचारेण साधयन्(?)अपूर्वं यद्धर्माख्यं नित्यं भगवद्रूपं तदभिव्यक्तं करोतीति। पाठोऽयमविरुद्धोऽपि मूलनैरपेक्ष्यानन् प्राधान्येनाऽऽहतः।

प्रथमस्कन्धीय वाक्य में कहे अर्थ को बताने वाले आचार्यचरणों के "धर्मो ह्यर्थेन(सर्व-16)" इस वाक्य का आधार लेकर पुरुषार्थों के अन्य दूसरे साध्यसाधन को भी गिन लिया है।

तेन चत्वारोऽपि सपरिकरा लौकिकेभ्यो विलक्षणाः । आपाततः साम्यं तु साजात्याल्लोकदृष्ट्या प्रतीयते मृत्काश्चनघटयोः स्फटिकहीरकयोरिव, न तु तत्स्वरूपैक्यं नियन्तुमलं भवति । तस्मात्ते अलौकिका एवेति निश्चयः । द्वारकेश्वरास्तु वेदोक्तानां पुरुषोत्तमसम्बन्धित्वेनाऽलौकिकत्वमाहुः । देवकीनन्दनास्तु ब्रह्मवादमाश्रित्य वैदिकानां साध्यसाधनफलानामलौकिकत्वमिच्छन्ति ।

अहं तु वाक्योक्तस्वरूपमादाय वदामीति विशेषः ।

इससे सिद्ध होता है कि, ये चार अलौकिकपुरुषार्थ अपने परिकरसहित लौकिकपुरुषार्थों से विलक्षण हैं। इनमें आपाततः प्रतीत होने वाली समानता तो नामसजातीय होने के कारण लोकदृष्ट्या प्रतीत होती है, जैसे कि मिट्टि का घड़ा और सोने का घड़ा; अथवा स्फटिक का घड़ा और हीरे का घड़ा। घड़ा तो दोनों को ही कहा जायेगा परन्तु दोनों के स्वरूप को एक नहीं कहा जा सकता। इसलिए भले ही लौकिकपुरुषार्थ एवं अलौकिकपुरुषार्थों के नाम एक हों परन्तु दोनों के स्वरूप को एक नहीं कहा जा सकता अतः वेद में बताए गए पुरुषार्थ अलौकिक ही हैं, यह निश्चित होता है। जबकि द्वारकेश्वरजी तो वेद में कहे पुरुषार्थों को पुरुषोत्तमसम्बन्धित होने के कारण अलौकिक मानते हैं। और देवकीनन्दनजी ब्रह्मवाद के आधार पर वैदिक साध्यसाधनफलों को अलौकिक कहना चाह रहे हैं; ब्रह्मवाद में यह बात कही गयी है कि, सभी कुछ ब्रह्मरूप है। "यज्ञो वै विष्णुः (कृष्णयजुर्वेद/तै0सं0/6/2/9/4)" एवं "तत्साधनं च स हरिः (सर्व-3)" इत्यादि वाक्यों के अनुसार यज्ञ एवं यज्ञोपयोगी समस्त साधन इत्यादि भी ब्रह्मरूप ही बताए गए हैं अतः इस आधार पर देवकीनन्दनजी यज्ञ एवं तत्संबन्धित साधनों को अलौकिक कह रहे हैं- यह अर्थ है। मैं तो आचार्यचरणों के मूलश्लोक के सीधे-सीधे वाक्यों के आधार पर इन्हें अलौकिकपुरुषार्थ कह रहा हूँ- यह अंतर है।

जीवविचारितानाहुर्लौकिका इत्यादि । ऋषिभिर्मन्वादिभिर्विशालाक्षादिभिर्नन्दादिभिः कपिलादिभिः प्रोक्ता धर्मादयो लौकिकाः स्मृतिसिद्धा इत्यर्थः ।

अब इसके पश्चात् जीवविचारित पुरुषार्थों के विषय में आपश्री लौकिकाः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। ऋषिभिः यानि मनु, विशालाक्ष, नन्दी, कपिल आदि ऋषियों द्वारा कहे धर्म-अर्थ आदि पुरुषार्थ लौकिकपुरुषार्थ कहे जाते हैं, जो कि स्मृतियों द्वारा सिद्ध कर दिए गए हैं- यह अर्थ है।

नन्वृषीणां सर्वज्ञानां वेदवेत्तृत्वात्तदुक्तानां कथं वैदिकेभ्यो भेद इत्याकाङ्क्षायां तत्रोपपत्तिमाहुस्तथैवश्वरशिक्षयेति । प्रपञ्चवैचित्र्येणाऽधिकारिभेदात्तत्तदर्थमीश्वरेण तथैव शिक्षिता अतस्तथेत्यर्थः । इदमपि "नो लङ्घनीयाः कुलदेशधर्माः" "शूद्रेषु दासगोपालः" "चतुर्थीमुद्गहेत्कन्याम्" "योगेनैव दहेदहं" इत्यादिवाक्यैस्तु मीयते । द्वारकेश्वरास्तु तथैव स्वप्रकृत्यनुसारेणैव ईश्वरस्य वेदस्य शिक्षया अर्थावबोधेनेत्यर्थमाहुः । इदमप्येकादशस्कन्धे चतुर्दशेऽध्याये "वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिन" इत्याद्युद्धवप्रश्ने "कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता । मयाऽऽदौ ब्रह्मणे" इत्यारभ्य "मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ । श्रेयो वदन्त्यनैकान्त्याद्यथाकर्म यथारुची"त्यन्ते सन्दर्भे सिद्ध्यतीति न शङ्कालेशः ॥३॥

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, ऋषि तो सर्वज्ञ होते हैं, वेद के ज्ञाता होते हैं, उनके द्वारा किया गया पुरुषार्थों का निरूपण वैदिकपुरुषार्थों से अलग कैसे हो सकता है ? तो आपश्री इसमें युक्ति बताते हुए तथैवश्वरशिक्षया इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि, इस प्रपञ्च में सभी अलग-अलग हैं और उनके अधिकार अलग-अलग हैं अतः अपने-अपने अधिकारानुसार ईश्वर ने उन्हें जैसे जिस प्रकार से प्रेरणा दी, उन्होंने वैसे ही प्रकार से निरूपण किया, इसीलिए उनकी बात वेद में कहे पुरुषार्थों से भिन्न जाती है। भगवान् द्वारा विभिन्न प्रकार से प्रेरणा देने वाली बात भी "अपने कुल, देश, धर्म का उल्लंघन नहीं करना चाहिए", "शूद्रेषु दासगोपालः(याज्ञवल्क्यस्मृति-1/166)", "चतुर्थीमुद्गहेत्कन्याम्", "योगेनैव दहेदहः(श्री0भा-11/20/25)" इत्यादि वाक्यों द्वारा जानने को मिलती है। इस संदर्भ में द्वारकेश्वरजी ने तो यह कहा है कि, ईश्वर/वेद ने ऋषियों को जिस प्रकार से शिक्षा दी और उससे उन्हें जिस प्रकार का अर्थबोध हुआ, उन्होंने वैसे ही प्रकार से अपने-अपने स्वभावानुसार इन लौकिकपुरुषार्थों की रचना की। यह बात भी एकादशस्कन्ध के चौदहवें अध्याय में "हे कृष्ण ! ब्रह्मवादी महात्मा कल्याण के अनेक साधन बतलाते हैं, इनमें से कौन सा

श्रेष्ठ है और कौन सा गौण ? (श्री०भा-११/१४/१)" इत्यादि उद्धवजी के द्वारा प्रश्न करने पर "यह वेदवाणी काल के फेर से नष्ट हो गयी थी(श्री०भा-११/१४/३)" यहाँ से लेकर "हे उद्धव ! इन सभी ऋषियों की बुद्धि मेरी माया से मोहित हो रही है, इसलिए ये सभी अपने-अपने कर्मसंस्कार से आत्मकल्याण के एक नहीं परन्तु अनेकों साधन बतलाते हैं(श्री०भा-११/१४/९)" यहाँ तक के सन्दर्भ द्वारा सिद्ध होती है, इसलिए इस अर्थ में लेशमात्र भी शंका नहीं है कि ईश्वर/वेद ने उन्हें जैसी प्रेरणा दी, उन्होंने वैसे ही निरूपण किया ॥३॥

एवं द्विविधानां स्वरूपमुक्त्वा लौकिकतत्प्रवक्तृणामृषीणामानन्त्यात्तदुक्तिषु हेयोपादेयभावं बोधयितुं वैदिकानां निःसन्दिग्धत्वं च बोधयितुमाहुर्लौकिकानित्यादि ।

लौकिकांस्तु प्रवक्ष्यामि वेदादाद्या अतः स्थिताः ।

धर्मशास्त्राणि नीतिश्च कामशास्त्राणि च क्रमात् ॥४॥

त्रिवर्गसाधकानीति न तन्निर्णय उच्यते ।

लौकिकान् स्मार्तान् धर्मादीन् । तुः शिष्यपरिगृहीतपक्षनिरासे । प्रकर्षेणेतरविवेकेन वक्ष्यामि कथयिष्यामीत्यतो हेतोः आद्या अलौकिका वेदात्काण्डद्वयात्मकात् स्थिताः जैमिनिकल्पकारबादरायणैराचार्यैः शब्दादिबलाबलं विचार्य शब्दादेव गुणप्रधानभावेन व्यवस्थापिताः । तथाच यदि वैदिकधर्मेषुस्तदा यथाशाखं कल्पेन जैमिनीयेन च धर्म साधयेत् । तथैवाऽर्थेषुरपि ताभ्यां तम् । यदि कामेषुस्तदा तथैव तमपि । मोक्षेषुस्तु यथाधिकारं वैयासेन ब्रह्मवादेन स्वतो मोक्षं भेदवादविशिष्टाद्वैतवादविशिष्टभक्त्यादिभिः परतो मोक्षमिति निबन्धादौ निर्णीतमेव । अतस्तेषामसन्दिग्धत्वादन्त्यानेव कथयिष्यामीत्यर्थः ।

इस प्रकार अलौकिक-लौकिक दोनों पुरुषार्थों का स्वरूप कहकर अब अग्रिमश्लोक में आचार्यचरण चूँकि लौकिकपुरुषार्थों के प्रवक्ता ऋषि तो अनन्त हैं अतः उनके कहे में अनुपयोगिता-उपयोगिता बताने के लिए एवं साथ ही साथ वैदिकपुरुषार्थों में निःसंदिग्धता भी बताने के लिए आपश्री लौकिकान् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

लौकिकान् का अर्थ है- लौकिकपुरुषार्थ जो कि स्मार्तधर्म में कहे गए हैं, आपश्री आज्ञा करते हैं- उन्हें व्यवस्थितरूप से कहेंगे। तु शब्द के प्रयोग द्वारा ज्ञात होता है कि आपश्री यहाँ केवल मूलऋषियों द्वारा निरूपित किए पुरुषार्थों को ही ग्रहण कर रहे हैं, कालान्तर में उनके शिष्यों द्वारा निरूपित किए पुरुषार्थों को नहीं। प्र+वक्ष्यामि का अर्थ है- आपश्री लौकिकपुरुषार्थों को विशेषरूप से कहेंगे, यानि इन्हें अलौकिकपुरुषार्थों से भिन्न बताते हुए कहेंगे। अतः आद्याः यानि अलौकिकपुरुषार्थ तो वेद द्वारा प्रमाणित ही हैं और चूँकि दो काण्ड वाले वेद में कहे पुरुषार्थों को जैमिनी, कल्पसूत्रकार, बादरायण इत्यादि आचार्यों ने वेद के ही शब्दों के बल-अबल का विचार करके और वेद के शब्दों के आधार पर ही गौण-मुख्य प्रकार से व्यवस्थापित कर ही दिया है इसलिए उनके विषय में अब पुनः बताने की आपश्री को आवश्यकता नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि, जिनको वैदिकधर्म की अभिलाषा है, उन्हें अपनी शाखानुसार यानि जो जिस शाखा के अंतर्गत आता हो उस प्रकार से एवं कल्पसूत्रकार-जैमिनी के कहे अनुसार 'धर्म' को सिद्ध करना चाहिए। यदि अर्थ की की अभिलाषा हो, तो उन्हें भी अपनी शाखानुसार एवं कल्पकार-जैमिनी के कहे अनुसार 'अर्थ' सिद्ध करना चाहिए। यदि काम की अभिलाषा हो, तो उन्हें भी अपनी शाखानुसार एवं कल्पसूत्रकार-जैमिनी के अनुसार 'काम' को सिद्ध करना चाहिए। और यदि मोक्ष की अभिलाषा हो, तो अपने-अपने अधिकारानुसार व्यासजी के द्वारा प्रणीत ब्रह्मवाद में बताए अनुसार स्वतःमोक्ष के लिए अथवा तो भेदवादविशिष्टभक्ति एवं अद्वैतवादविशिष्टभक्ति आदि के द्वारा परतःमोक्ष के लिए यत्न करना चाहिए- यह बात आचार्यचरणों ने निबन्ध आदि में निर्णीत कर ही दी है। अतः इससे आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, जब उक्त प्रकार से अलौकिकपुरुषार्थों का तो असंदिग्धरूप से निरूपण हो ही चुका है, तो अब हम शेष बचे लौकिकपुरुषार्थों

१. एतेन 'यतः स्थिता' इत्यत्र 'अतः स्थिता' इति पाठः प्राप्यते परन्तु मूले तथा स्वीकारे प्रत्युत योजनायाः क्लिष्टत्वात् 'कथयिष्यामि यतो हेतोरिति विवृतावेव पाठः प्रतिभाति।

के विषय में कहेंगे- यह अर्थ है।

एवं प्रतिज्ञाय “मानाधीना मेयसिद्धि”रिति मानकथनमुखेनैवाऽऽहुर्धर्मेत्यादि । धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि गृह्यसूत्रादीनि च । तेनाऽऽगमा^१ वामाद्या व्यावर्तिताः । नीतिः बृहस्पत्यादिप्रणीतं राजनीतिशास्त्रम् । एकवचनं ब्राह्मवैशालाक्षवाहदन्तकबार्हस्पत्यौशनसप्राचेतसादीनामिदानीमप्रसिद्धत्वाद्राजधर्मादौ भारते दिङ्मात्रमुक्ताया अपि नीतेः कार्यक्षमत्वात्तत्परम् । तेन चौरघृतकारादिशास्त्राणि व्यावर्तितानि । कामशास्त्राणि वात्स्यायनसूत्राणि । ब्राह्मनान्दबाभ्रव्यादीनामिदानीमप्रसिद्धत्वेऽपि दन्तकादिप्रणीतशास्त्रार्थस्य वात्स्यायनसूत्रेषु सप्ताधिकरण्या कथनाद्बहुवचनम् । तेनाऽपि “मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिष्वि”त्यादिबोधकानि कौलादीनि व्यावर्तितानि ।

इस प्रकार से लौकिकपुरुषार्थों को कहने की प्रतिज्ञा करके “प्रमेय की सिद्धि तो प्रमाण से ही होती है” इस कथनानुसार आपश्री आगे प्रमाण द्वारा ही धर्म आदि लौकिकपुरुषार्थों के विषय में कह रहे हैं। धर्मशास्त्राणि का अर्थ है- मनु द्वारा प्रणीत शास्त्र अथवा तो गृह्यसूत्र इत्यादि शास्त्र। इससे ज्ञात होता है कि, आपश्री ने वाममार्ग इत्यादि आगमशास्त्रों को प्रमाणकोटि में नहीं लिया है। नीति का अर्थ है- बृहस्पति आदि द्वारा प्रणीत राजनीतिशास्त्र। नीति शब्द चूँकि आपश्री ने एकवचन में दिया है, अतः इससे ज्ञात होता है कि चूँकि अब वर्तमान में ब्राह्म, वैशालाक्ष, वाह, दन्तक, बार्हस्पत्य, औशनस, प्राचेतस आदि ऋषि अप्रसिद्ध हो चले हैं, अब इन्हें कोई नहीं जानता, इसलिए महाभारत के राजधर्म के उपदेश में भले ही नीति की दिशामात्र ही बतायी गयी है, तथापि वही नीति कार्य सिद्ध कराने में सक्षम सिद्ध होती है, इसलिए ‘नीति’ शब्द आपश्री ने एकवचन में लिखा है। इसके द्वारा आपश्री ने चौर्य-घृत आदि के शास्त्रों को नीतिशास्त्र के अंतर्गत नहीं गिना है। कामशास्त्राणि का अर्थ है- वात्स्यायनसूत्र। यहाँ बहुवचन का प्रयोग इसलिए क्योंकि, यद्यपि ब्राह्म, नान्द, बाभ्रव्य आदि भी कामशास्त्रकार हुए हैं तथापि वर्तमान में ये सभी अप्रसिद्ध हो चले हैं, तथापि दन्तक आदि ऋषि द्वारा प्रणीत कामशास्त्रार्थ का वात्स्यायनसूत्रों के सप्ताधिकरण में उल्लेख किया गया है, अतः उनको भी बताने के लिए आपश्री ने कामशास्त्राणि यों बहुवचन का प्रयोग किया है। इन सभी कामशास्त्रों में भी “मातृयोनि छोड़कर अन्य सभी स्त्रियों के संग विहरण करना चाहिए” इत्यादि बातें बताने वाले कौल आदि शास्त्रों को यहाँ आपश्री ने कामशास्त्र के अंतर्गत नहीं गिना है।

एतानि क्रमात् त्रिवर्गसाधकानि । तथा च तदुक्तरीत्या साधने धर्मार्थकामाः परस्परविरोधेन सिद्ध्यन्ति । यथाऽऽह वात्स्यायनः, “किं स्यात्परत्रेत्याशङ्का यस्मिन्कार्ये न जायते । न चाऽर्थघ्नं सुखं चेति शिष्टास्तस्मिन्व्यवस्थिता” इति । अन्यथा साध्यमानास्तु परस्परविरोधादधर्मानर्थद्वेषाख्यदुष्टत्रिवर्गपर्यवसायिनो भवन्तीत्यर्थः । एवं त्रिवर्गे गुणप्रधानभावो गुणभूतसाधनव्यवस्था च सङ्क्षेपेण सूचिता ।

ऊपर कहे तीन शास्त्र क्रमशः त्रिवर्ग के साधक हैं, यानि धर्म-अर्थ-काम पुरुषार्थों के साधक हैं। तात्पर्य यह कि इन शास्त्रों ने जिस प्रकार से नीति बताया है, उस प्रकार से साधन करेंगे तो धर्म-अर्थ-काम पुरुषार्थ परस्पर विरोध न रखते हुए सिद्ध होते हैं। जैसा कि वात्स्यायन ने भी “किं स्यात् परत्रेत्याशंका यस्मिन्कार्ये न जायते (वात्स्यायन कामसूत्र-1/2/40)” यों कहा है। इन शास्त्रों से अतिरिक्त अन्य दूसरे प्रकार के साधनों द्वारा पुरुषार्थों को सिद्ध करने जायेंगे, तो धर्म-अर्थ-काम इन तीनों पुरुषार्थों में परस्पर विरोध आयेगा और तब वे साधन अधर्म, अनर्थ और द्वेषरूपी दुष्ट त्रिवर्ग को सिद्ध करने वाले बनते हैं- यह अर्थ है। इस प्रकार आपश्री ने गौण/प्रधान त्रिवर्ग धर्म-अर्थ-काम एवं इन दोनों प्रकार के त्रिवर्गों को प्राप्त करने के लिए गौण/प्रधान साधन क्या हैं, यह व्यवस्था भी संक्षेप में सूचित की।

अतः परमधर्माद्यभावाय यथैतानि शास्त्राण्युक्तानि तथैतेषां निर्णयोऽपि तदर्थं वाच्य इत्याकाङ्क्षायामाहुरिति न तन्निर्णय उच्यत इति । इति त्रिवर्गसाधनत्वादेव हेतोः तेषां धर्मशास्त्रादीनां निर्णयो नोच्यते, “त्रैवर्गिकायासे”तिवाक्येन भगवन्मार्गे तेषामनुपादेयत्वान्नोच्यत इत्यर्थः ॥४१॥

कोई ये प्रश्न करता है कि, अधर्म न हो पाए तदर्थ आपश्री ने जिस प्रकार से इन त्रिवर्गों के शास्त्रों के विषय में बताया और तदनुसार त्रिवर्गों के लिए प्रयत्न करने की बात कही, उसी प्रकार आपश्री को इन शास्त्रों का मूल सार क्या है और इनमें

क्या बात कही गयी है, इसे भी विस्तार से बताना चाहिए था- तो आपश्री इसका समाधान न तन्निर्णय उच्यते(हम इन शास्त्रों के बारे में विस्तार से नहीं कह रहे हैं) इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री इन शास्त्रों का निर्णय अर्थात् विस्तार से चर्चा करके इनका सारभूत तत्त्व इसलिए नहीं कह रहे हैं क्योंकि ये शास्त्र त्रिवर्ग(धर्म-अर्थ-काम)के ही साधन हैं, जबकि "मैं अपने भक्त के धर्म-अर्थ-काम सम्बन्धी प्रयत्नों का विघात कर देता हूँ(श्री0भा-6/11/23)" इत्यादि वाक्यानुसार हमारे इस भगवन्मार्ग में धर्म-अर्थ-काम पुरुषार्थ तो अनुपयोगी सिद्ध हो जाते हैं अतः आपश्री व्यर्थ में इनके विषय में कुछ नहीं कह रहे हैं- यह अर्थ है ॥ 4 1/2॥

एवं त्रिवर्गव्यवस्थां सूचयित्वा मोक्षरूपं फलमेकमनेकं वेत्याकाङ्क्षायां तद्भेदं वक्तुमाहुर्मोक्ष इत्यादि ।

मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि लौकिके परतः स्वतः ॥५॥

द्विधा द्वे द्वे स्वतस्तत्र सांख्ययोगौ प्रकीर्तितौ ।

त्यागात्यागविभागेन साङ्ख्ये त्यागः प्रकीर्तितः ॥६॥

स्मार्तमोक्षविषयकाणि चत्वारि शास्त्राणीत्यर्थः । एतेन “प्रजामनु प्रजायन्ते तदु मर्त्यामृतं विदुरि”ति श्रुत्युक्तः “स्वर्गं मोक्षं सुखानि च । प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहा” इति पितृदेवो मोक्षस्तच्छास्त्रं च निवारितम् । एवमन्यदपि तन्त्रोक्तम् । कथमेवमित्यत आहुः परतः इत्यादि । परतः स्वतः द्विधा परायत्तस्वायत्तभेदेन द्विप्रकारके मोक्षे द्वे द्वे शास्त्रे, तेन चत्वार्येत्यर्थः ।

इस प्रकार से त्रिवर्ग की व्यवस्था सूचित करके, मोक्षरूप फल एक है या अनेक, यह आकांक्षा होने पर मोक्ष के भेद बताने के लिए मोक्षे इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि इत्यादि शब्दों का अर्थ है- स्मार्तधर्म से सम्बन्धित मोक्ष प्राप्त कराने वाले चार शास्त्र हैं, यानि कि लौकिकमोक्ष प्राप्त कराने वाले चार शास्त्र हैं- यह अर्थ है। किन्तु उन चार शास्त्रों के अंतर्गत आपश्री ने "प्रजामनु प्रजायन्ते(आपस्तम्बसूत्र 2/9/24/1)" इस श्रुति में बताए गए मोक्ष को एवं "स्वर्गं मोक्षं सुखानि च(ब्रह्मपुराण-220/119)" इस वाक्यानुसार पितरों के द्वारा प्राप्त होने वाले मोक्ष को और पितर आदि की प्रधानता बताने वाले शास्त्रों को भी नहीं गिना है। इसी प्रकार अन्य दूसरे तन्त्रों में कहे/बताए मोक्षों को भी आपश्री ने ऊपर कहे चार मोक्षशास्त्रों के अंतर्गत नहीं गिना है। आपश्री ने स्मार्तमोक्ष के चार शास्त्र क्यों बताए, इसे परतः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री परतः और स्वतः के अनुसार मोक्षप्राप्ति के दो प्रकार हैं एवं इन दोनों प्रकारों से मोक्षप्राप्ति को बताने वाले दो-दो शास्त्र हैं, अतः कुलमिलाकर मोक्षप्राप्ति के लिए चार शास्त्र हुए- यह कह रहे हैं। यानि आपश्री आज्ञा करते हैं- (1)अपने खुद के आधीन रहकर मोक्षप्राप्त करना(स्वतः या स्वायत्तः) और (2)अन्यों के आधीन रहकर मोक्षप्राप्त करना(परतः या परायत्तः), यों दोनों ढंग के अंतर्गत दो-दो शास्त्र हैं, अतः कुल मिलाकर चार ही शास्त्र होते हैं अतः इन चार शास्त्रों के अतिरिक्त मोक्ष दिलाने/बताने वाले अन्यान्य शास्त्रों को आपश्री नहीं गिन रहे हैं- यह अर्थ है।

अवान्तरविभागं संप्रयोजकं वक्तुं परायत्तमोक्षपक्षे विचारबाहुल्यात्तदनुक्त्वा सूचीकटाहन्यायेन स्वायत्तमोक्षप्रतिपादकविभागमाहुः स्वतः इत्यादि । स्वतस्तत्र स्वायत्ते मोक्षे त्यागात्यागविभागेन साङ्ख्ययोगौ दर्शनग्रन्थौ प्रकीर्तितौ आदृतत्वेन शिष्टैः कथितौ । तथा चैतौ शिष्टादृतावित्यर्थः । एतेन मोक्षप्रतिपादकौ कणभक्षाक्षचरणदर्शनग्रन्थौ शिष्टानादृतत्वेन व्यावर्तितौ । अत एव पराशरोपपुराणे “अक्षपादप्रणीते च काणादे साङ्ख्ययोगयोः । त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोऽंशः श्रुत्येकशरणैर्नृभिरिति । “एतेन शिष्टापरिग्रहा व्याख्याता” इति व्याससूत्रश्च । तेन कैमुतिकन्यायादेव तथागतार्हतलोकायतादिव्यावृत्तिरपि सूचिता ।

इन दोनों प्रकारों (स्वतः और परतः)के अवान्तर विभागों को उनके प्रयोजकसहित बताने के लिए, और चूँकि परायत्तमोक्ष का विचार बड़ा है, अतः पहले उसे न कहकर सूचीकटाहन्याय से स्वायत्तमोक्ष के प्रतिपादक विभागों को आपश्री स्वतः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि- स्वतः यानि स्वायत्तमोक्ष का प्रकार त्याग-अत्याग के

भेद से क्रमशः 'सांख्य' एवं 'योग' इन दोनों दर्शनग्रन्थों में भलीभाँति कहा गया है, यानि विद्वानों ने इस मोक्ष के प्रकार को आदरपूर्वक कहा है। ऐसा कहने के द्वारा यह ज्ञात होता है कि, कणभक्ष(वैशेषिक) और अक्षचरण(न्याय) इन दोनों के ग्रन्थों के प्रति विद्वानों की सम्मति नहीं है, अतः इन दोनों को आपश्री ने यहाँ नहीं गिना है। इसी कारण पराशरोपपुराण में भी "अक्षपादप्रणीते च काणादे सांख्ययोगयोः(8/28)" यह बात कही गयी है। यही बात "एतेन शिष्टापरिग्रहा व्याख्याता(ब्र0सू-2/1/12)" इस व्याससूत्र द्वारा भी कही गयी है। इस प्रकार आपश्री कैमुतिकन्याय से बौद्धमत, जैनमत, चार्वाकमत इत्यादि मतों को तो अपने आप ही इस कोटि से अलग होना सूचित कर रहे हैं।

एवं प्रयोजकभेदमुक्त्वा क्रमे प्रातिलोम्यभ्रमं वारयितुमाहुः साङ्ख्ये त्यागः प्रकीर्तित इति । साङ्ख्ये हि "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" इति नित्यानिवस्तुनि सङ्गृह्य तद्विवेकेन पुरुषस्य मोक्षः प्रतिपादितः । ततः "एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम् । अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानमि"तीश्वरकृष्णाचार्येणाऽहन्ताममतात्यागो ज्ञानसाधनत्वेनोक्तः । साङ्ख्यप्रवचनेऽपि "तत्त्वाभ्यासान्नेति नेति त्यागाद्विवेकसिद्धिरिति"तिसूत्रितम् । अर्थस्तु धर्मवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याख्यैः सप्तमी रूपैः प्रकृतिः पुरुषं बध्नाति । एकेन ज्ञानेन रूपेण सैव मोचयतीति तत्त्वाभ्यासात्पौनःपुन्येन मननात् पूर्वप्रतिपादितैरन्यायैरनात्मनां त्यागाद्विवेकस्य सिद्धिर्दृढभूमित्वं भवतीति । तथा चैवं मोक्षसाधनत्वेनोक्तः । अतस्त्यागेन स्वायत्तमोक्षबोधकं साङ्ख्यशास्त्रमित्यर्थः ॥५॥६॥

इस प्रकार मोक्षप्राप्ति के प्रयोजकभेद(यानि स्वतः और परतः को)बताकर, अब कोई सांख्य और योग में भ्रमित होकर त्याग और अत्याग को उल्टे क्रम में न समझ ले, अतः आपश्री खुद ही सांख्य में त्याग की प्रक्रिया बतायी गयी है- यह बताने के लिए सांख्ये त्यागः प्रकीर्तितः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। सांख्यमत में मोक्ष के संदर्भ में "मूलप्रकृति में विकार नहीं आता, किन्तु महद् आदि सात प्रकृतियों में विकार आता है। इसके अतिरिक्त सोलह विकार होते हैं। किन्तु पुरुष न प्रकृति है और न विकृति(ईश्वरकृष्ण प्रणीत सांख्यकारिका/3)" इस सांख्यकारिका के अनुसार जब जीव नित्य-अनित्य का विवेक कर लेता है, तब उसे मोक्षप्राप्त होता है- इस ढंग से प्रतिपादित किया गया है। इसके पश्चात् ईश्वरकृष्ण ने "एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि न मे... ज्ञानम्(सांख्यकारिका/64)" इस वाक्य से अहन्ता-ममता का त्याग करने को ज्ञान उत्पन्न करने के साधन के रूप में कहा है। सांख्यदर्शन के वचनों के अंतर्गत कपिलजी ने "तत्त्वाभ्यासान्नेति नेति(महर्षिकपिलप्रणीत सांख्यदर्शन 3/76)" यह सूत्र लिखा है। इस सूत्र का अर्थ है- धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य इत्यादि प्रकृति के सात रूप पुरुष को बाँध देते हैं, यानि उसे मुक्त नहीं होने देते। केवल ज्ञान के द्वारा ही प्रकृति पुरुष को मुक्त करती है अतः तत्त्वाभ्यास करने से यानि वारंवार इन सात प्रकृतियों का मनन करने से पूर्वप्रतिपादित सांख्यकारिका में कहे अनुसार अनात्मवस्तुओं का त्याग(आत्मा के अतिरिक्त सभी का त्याग)करने से विवेक सिद्ध होता है और तब विवेक के दृढ़ होने पर पुरुष/जीव का मोक्ष हो जाता है। इस प्रकार से सांख्य में त्याग को मोक्षप्राप्ति के साधन के रूप में बताया गया है। अतः त्याग करने के द्वारा स्वायत्तमोक्ष का प्रकार बताने वाला सांख्यशास्त्र है- यह अर्थ है ॥5॥6॥

अतः परं यदर्थमिदं साधनमुक्तं तस्य मोक्षस्य स्वरूपमाहुरहन्तेत्यादि ।

अहन्ताममतानाशे सर्वथा निरहङ्कृतौ ।

स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते ॥७॥

पूर्वोक्तरीत्या प्रकृतिप्राकृतत्यागेन स्थूललिङ्गशरीराहन्तायास्तत्परिकरममतायाश्च नाशे सति बुद्धितत्त्वस्थे स्वप्रतिबिम्बेऽभिमानाभावेन कर्तृत्वभोक्तृत्वाभावात्सर्वथा निरहङ्कृतौ सर्वथोदासीनत्वे सति स्वरूपस्थो "जडप्रकाशयोगात्प्रकाशः" इति सूत्रान्निर्विषयप्रकाशात्मत्वेन विद्यमानो यदा जीवः शारीर आत्मा भवति तदा स आत्मा कृतार्थो मुक्तो निगद्यते साङ्ख्यशास्त्रेणैव उच्यते । तथा च विस्मृतकण्ठमणिन्यायेन स्वस्वरूपे ज्ञाते बन्धो निवर्तत इति विविक्तस्वरूपमेव स्वतो मोक्ष इत्यर्थः । मायावादिमतेऽप्येवम् ॥७॥

अब इसके पश्चात् जिस सांख्यप्रणीतमोक्ष के लिए उपर्युक्त साधन आपश्री ने बताए, उस मोक्ष का स्वरूप क्या है- यह

आपश्री अहन्ताममतानाशे इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

इससे आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि, पूर्वश्लोक में बताए अनुसार प्रकृति और प्राकृतवस्तुओं का त्याग करने से (सांख्यमत में 'प्रकृति' का अर्थ है-माया; और प्राकृतवस्तुओं का तात्पर्य है- जगत में दिखाई देने वाले समस्त पदार्थ) जब स्थूल एवं लिंगशरीर में रही अपनी अहन्ता और अहन्ता की परिकर ममता का नाश होता है, और नाश होने के पश्चात् जब बुद्धितत्त्व निर्मल बनता है एवं निर्मलबुद्धितत्त्व में जब उसे अपने वास्तविक स्वरूप का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, तब उसे यह ज्ञात होता है कि, न मैं किसी का कर्ता हूँ और न ही किसी का भोक्ता; जब उसे ऐसा अनुभव होता है, तब उसमें सर्वथा निरहंकृति उत्पन्न होती है, यानि वह सभी पदार्थों के प्रति उदासीन हो जाता है, उसे किसी में रुचि नहीं रहती और तब वह स्वरूपस्थ बनता है, यानि "जडप्रकाशयोगात्प्रकाशः (महर्षिकपिलप्रणीत सांख्यदर्शन-1/145)" इस सूत्र के अनुसार निर्विषयक बनकर प्रकाशरूप होकर जब जीव शरीर/आत्मारूप हो जाता है, तब स वह आत्मा कृतार्थ हुआ कहा जाता है, मुक्त हुआ कहा जाता है- ऐसा सांख्यमत के आचार्य कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि, जब उसे विस्मृतकंठमणिन्यायानुसार अपने अभिमानरहित वास्तविकस्वरूप का ज्ञान होता है, तब उसके समस्त बन्ध दूर हो जाते हैं- इस प्रकारक विविक्तस्वरूप (शुद्धस्वरूप) प्राप्त करने को ही स्वतमोक्ष कहते हैं। मायावादियों के मत में भी मोक्षप्राप्ति में यही प्रकार कहा गया है ॥7॥ कोई निर्धन ब्राह्मण भिक्षा माँगने निकला। उसने कंठ में कोई माला पहन रखी थी, जिसमें एक बहुमूल्य मणि जड़ी हुई थी। परन्तु ब्राह्मण को उसका मूल्य ज्ञात नहीं था। किसी ने उस बहुमूल्य मणि को पहचान लिया और उसे उसका मूल्य ज्ञात करवा कर यह बताया कि उसकी निर्धनता दूर करने का उपाय तो न जाने कितने वर्षों से उसने अपने ही कंठ में पहन रखा है। ब्राह्मण को जैसे ही यह बात ज्ञात हुई, उसने तुरंत मणि को बेचकर अपनी निर्धनता दूर कर ली। जब समस्या का समाधान अपने ही पास उपलब्ध हो परन्तु विस्मृत हो चुका हो एवं कालान्तर में ज्ञात हो, उस परिस्थिति को 'विस्मृतकंठमणिन्याय' द्वारा बताया जाता है।

ननु गौतमकणादादिमतवत्साङ्ख्य्यादिमतमप्यंशतः श्रुतिविरुद्धमिति कथं साङ्ख्यप्रतिपत्ते मोक्षे शिष्टानामादरः, चिद्धर्मकस्य जीवस्यैकविंशतिदुःखध्वंसात्मके अशेषविशेषगुणोच्छित्यात्मके च गौतमाद्युक्ते मोक्षे कथं नाऽऽदर इत्याकाङ्क्षायामाहुस्तदर्थमित्यादि ।

तदर्थं प्रक्रिया काचित् पुराणेऽपि निरूपिता ।

ऋषिभिर्बहुधा प्रोक्ता फलमेकमबाह्यतः ॥८॥

“मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिर्”ति पुराणे मोक्षलक्षणान्तदर्थं तादृशमोक्षार्थं प्रक्रिया पञ्चविंशत्यादितत्त्वकथनरूपा प्रकृत्यादिभ्य आत्मविवेकसाधनार्था च सरणिः काचित्पुराणेऽपि निरूपिता । पुराणं श्रुत्युपबृंहणत्वाद्देवार्थनिर्णायकमतस्तत्सामानाधिकरण्यादत्र शिष्टादरः । कणादाद्युक्तानां त्वस्मिन्नप्यंशे वैयधिकरण्यादनादर इत्यर्थः ।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, गौतम, कणाद आदि के मत को जिस प्रकार विद्वानों द्वारा स्वीकार नहीं किया गया, उसी प्रकार सांख्यमत में भी तो अंशतः श्रुति से विरोध आता ही है, तो फिर सांख्यमत में बताए मोक्ष के प्रति विद्वानों की सम्मति क्यों है ? और साथ ही साथ, चिद्धर्मात्मक जीव के 21 प्रकार के दुःखों का नाश हो जाने पर संपूर्ण विशेषगुणों की निवृत्ति हो जाने के पश्चात् निर्गुण-अवस्था में पहुँचने को मोक्ष बताने वाले गौतम ऋषि आदि के द्वारा बताए मोक्षस्वरूप के प्रति विद्वानों की सम्मति क्यों नहीं है ? यह भी तो स्वतःमोक्ष का ही एक प्रकार हुआ, फिर इनके द्वारा बताए मोक्ष में विद्वानों की सम्मति क्यों नहीं है ?? यह आकांक्षा होने पर आपश्री इसका स्पष्टीकरण तदर्थं इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं- "मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं (श्री० भा- 2/10/6)" यह भागवतपुराण में मोक्ष का लक्षण कहा गया है इसलिए, तदर्थं यानि सांख्यमत के समान ही मोक्षप्राप्ति के लिए कोई प्रक्रिया पुराण में भी कही गयी है, यानि 25 प्रकार के तत्त्व बताकर प्रकृति आदि से अपनी आत्मा को भिन्नतया अनुभव करने का कोई मार्ग पुराणों में भी बताया गया है। अब चूँकि पुराणों में जो बात बतायी गयी है, वह श्रुतिसम्मत है, अतः पुराणों में कही बात वेद के अर्थ की निर्णायक होती है इसलिए सांख्यमत के प्रति विद्वानों की सम्मति है, उसके प्रति आदरभाव है। और कणाद आदि ने जिस मोक्ष के लिए जो कहा है, उसकी चर्चा पुराणों में

नहीं मिलती अतः कणाद, गौतम आदि ऋषियों के निरूपण के प्रति विद्वानों की सम्मति नहीं है- यह अर्थ है।

ननु साङ्ख्यमनेकविधम् । क्वचित् षड्विंशतितत्त्वानि । क्वचित् पञ्चविंशतिः । क्वचित् षोडश सप्तदशेत्यादि । तथा सति तेषामेकफलाभावात्कथं सर्वेषां साङ्ख्यानमादरणीयत्वमिति चेत्, तत्राऽऽहुः ऋषिभिरित्यादि । यद्यपि साङ्ख्यप्रक्रिया ऋषिभिर्बहुधा प्रोक्ता, तथापि, अबाह्यतः विमार्गपरिपोषितात् आत्मव्यतिरिक्तत्यागरूपं यदबाह्यमन्तरङ्गं साधनं तत्सर्वत्रैकम् । ततो वा हेतोस्तासु सर्वास्वपि प्रक्रियासु फलं स्वरूपावस्थानात्मकमोक्षरूपमेकमेव । अतो बाह्यसाङ्ख्यव्यतिरिक्तं सर्वमेव साङ्ख्यं शिष्टादरणीयमित्यर्थः ॥८॥

किन्तु यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि, सांख्य भी अनेक प्रकार का है ! किसी सांख्यमत में 26 तत्त्व(पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चविषय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, काल और भगवान)कहे गए हैं, तो कहीं भगवानरहित 25 तत्त्व। कहीं 16 तत्त्व तो कहीं 17 तत्त्व। इस परिस्थिति में तो सांख्य से एक ही प्रकार का फल प्राप्त नहीं होगा, अतः सभी सांख्यमतों को कैसे स्वीकारा जा सकता है ? यदि ऐसी शंका होती हो, तो आचार्यचरण ऋषिभिः इत्यादि शब्दों से इसका समाधान कह रहे हैं। इससे आपश्री आज्ञा करते हैं- यद्यपि सांख्यप्रक्रिया ऋषियों ने अनेक प्रकार से कही है, तथापि, अबाह्यतः यानि विमार्ग का प्रतिपादन न करने वाले सांख्य में अपनी आत्मा के अतिरिक्त जो 25 या 26 समस्त तत्त्वों का त्याग बताने वाला अन्तरंग साधन है, वह साधन तो सभी प्रकार के सांख्यमतों में एक समान ही है। इस कारण सांख्य की समस्त प्रक्रियाओं में फलं यानि अपने वास्तविकस्वरूप में अवस्थित हो जाने रूपी फल जिसे कि सांख्य में 'मोक्ष' कहा जाता है, वह फल तो सभी अबाह्यसांख्यों में एक समान ही है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि बाह्यसांख्य(विमार्ग को पोषित करने वाला वेदविरुद्ध सांख्य)के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के सांख्यमत के प्रति विद्वानों की सम्मति है- यह अर्थ है ॥८॥

एवं स्वतो मोक्षसाधकमेकं शास्त्रं निर्णीतम् । अतः परं द्वितीयं निर्णेतुमुपक्षिपन्त्यत्याग इत्यादि ।

अत्यागे योगमार्गो हि त्यागोऽपि मनसैव हि ।

यमादयस्तु कर्तव्याः सिद्धे योगे कृतार्थता ॥९॥

अत्यागे त्यागाभावे साधनत्वेन विवक्षिते योगमार्गश्चित्तवृत्तिनिरोधेनाऽऽत्मबोधको यः पन्थाः, स हि युक्तः पुराणसमानाधिकरणः । तथा च ततः शिष्टादृत इत्यर्थः ।

इस प्रकार से स्वतःमोक्ष के साधनरूप एक शास्त्र का निर्णय आचार्यचरणों ने किया। अब इसके पश्चात् स्वतःमोक्ष का प्रतिपादन करने वाले दूसरे शास्त्र का निर्णय करने के लिए आपश्री अत्यागे इत्यादि शब्दों से कहना आरम्भ कर रहे हैं।

त्याग कर पाना संभव न बनता हो और साथ ही साथ मोक्षप्राप्ति की भी कामना हो, तो उसके साधन के रूप में योगमार्ग है; योगमार्ग यानि चित्तवृत्ति का निरोध करने के द्वारा अपनी आत्मा का बोध कराने वाला जो मार्ग है, वह योगमार्ग है; हि शब्द इस अर्थ को युक्त बताने के लिए प्रयुक्त हुआ है; चूँकि योगमार्ग भी पुराणों में वर्णित है, इसी कारण विद्वानों की इसमें सम्मति भी है।

ननु त्यागाभावे कथं योगसिद्धिः कथं च मोक्ष इत्याकाङ्क्षायां तत्रत्यं साधनसमाजमाहुस्त्याग इत्यादि । हि यस्माद्धेतोर्मनसैव त्यागो “नैव किञ्चित्करोमी”त्याद्युक्तवत् । तु पुनः यमादयः यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणासमाधयो बाह्याभ्यन्तरा उपायत्वेन कर्तव्याः । तैः सिद्धे योगे चञ्चलस्य मनसोऽखिलवृत्तिनिरोधे “दृढे सति कृतार्थता आत्मनः स्वरूपावस्थानरूपमोक्षसिद्धिरित्यर्थः । एतेन निर्बीजसबीजयोगा अबाह्या यावन्तस्ते सर्वेऽपि योगत्वेन सङ्गृहीताः ॥९॥

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, त्याग किए बिना कैसे योगसिद्धि होगी और कैसे मोक्षप्राप्त होगा ? ऐसी आशंका होने पर आपश्री योगमार्ग के साधनसमूह को त्याग इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- योगमार्ग में त्याग मन से ही होता है, जैसा कि “नैव किञ्चित्करोमि(भ०गी-५/८)” इस वाक्य में कहा गया है, वैसे प्रकार से। इसके साथ-साथ आपश्री यमादयस्तु इत्यादि शब्दों से यह भी बता रहे हैं कि, योगमार्ग में योग सिद्ध करने के लिए यम, नियम, आसन,

प्राणायाम, ध्यान, धारणा और समाधि इत्यादि बाह्य और आभ्यान्तर क्रियाएँ उपायरूप से करनी चाहिए। इन सभी के द्वारा जब योग सिद्ध होता है, यानि चञ्चल मन की समस्त वृत्तियों का निरोध दृढ़ होता है, तब कृतार्थता होती है, यानि अपनी आत्मा के शुद्धस्वरूप में स्थित हो जाने रूपी मोक्ष प्राप्त होता है- यह अर्थ है। यह कहने के द्वारा आपश्री ने निर्बीज-सबीज दोनों प्रकार के योग जो कि विमार्ग नहीं हैं, ऐसे सभी योगमार्गों को योगमार्गः शब्द से कह दिया है। योगमार्ग में ध्यान करने की दो प्रकार की पद्धतियाँ बतायी गयीं हैं- 'निर्बीजयोग पद्धति' और 'सबीजयोग पद्धति'। संक्षेप में जहाँ किसी का अवलम्बन करते हुए ध्यान लगाना होता है, वह सबीजयोग पद्धति कहलाती है (सबीजयोग पद्धति के लिए देखें- श्री० भा-३/२८/१-३३)। और जहाँ पर कालान्तर में ध्यान की उच्चावस्था में पहुँचने पर किसी का भी अवलम्बन नहीं रहता, उसे निर्बीजयोग पद्धति कहते हैं ॥९॥

एवं स्वतो मोक्षे द्वितीयं शास्त्रं निर्णीतम् । अतः परं परतो मोक्षविषयकं शास्त्रद्वयं निर्णेतुं तत्रत्यमोक्षस्वरूपनिरूपणपूर्वकं तत्प्रपञ्चयन्ति पराश्रयेत्यादि ।

पराश्रयेण मोक्षस्तु द्विधा सोऽपि निरूप्यते ।

ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातस्तद्रूपेण सुसेव्यते ॥१०॥

ते सर्वार्था न चाऽऽद्येन शास्त्रं किञ्चिदुदीरितम् ।

अतः शिवश्च विष्णुश्च जगतो हितकारकौ ॥११॥

पराश्रयेण परस्य तत्तच्छास्त्रे सर्वोत्कृष्टत्वेन प्रतिपादितस्य आश्रयेण सर्वात्मना आलम्बनेन मोक्षः बन्धनिवृत्त्या सालोक्यादिचतुष्टयरूपः । तुः पूर्वपक्षनिरासे । केवलस्वरूपावस्थानरूपो न किन्तु तत्तदानन्दानुभवात्मा ।

इस प्रकार यहाँ तक आपश्री ने स्वतःमोक्ष के अंतर्गत आने वाले दूसरे शास्त्र का निर्णय किया। अब इसके पश्चात् परतःमोक्षविषयक दो शास्त्रों का निर्णय करने के लिए उन दोनों शास्त्रों में बताए मोक्षस्वरूप का निरूपण करते हुए उसको विस्तार से पराश्रयेण मोक्षस्तु द्विधा सोऽपि निरूप्यते इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

पराश्रयेण का अर्थ है- दूसरे का आश्रय लेकर, यानि मोक्षप्राप्ति के लिए जिन देवताओं का आश्रय ले रहे हैं, उन-उन के शास्त्रों में सर्वोत्कृष्टरूप से वर्णित किए गए देवताओं का आश्रय लेकर, यानि सभी प्रकार से उन पर निर्भर रहते हुए मोक्षप्राप्त करना, अर्थात् सांसारिक बन्धनों की निवृत्ति होकर सालोक्य आदि चार प्रकार की मुक्ति प्राप्त करनी। तु शब्द से ज्ञात होता है कि, यहाँ से अब पूर्व में कहे स्वतःमोक्ष की चर्चा समाप्त होकर परतःमोक्ष की चर्चा आरम्भ हुई है। पराश्रयमोक्ष की प्रक्रिया में सांख्य या योग में प्राप्त होने वाले अपनी आत्मा के शुद्धस्वरूप में स्थित हो जाने रूपी मोक्ष प्राप्त नहीं होता अपितु सालोक्य आदि चार प्रकार की मुक्तियों का आनन्द अनुभव करने रूपी मोक्ष प्राप्त होता है।

द्विधा परद्वैविध्यात् द्विप्रकारः । तेन तत्प्रतिपादकशास्त्रेऽपि द्वित्वमित्यर्थः । कथं द्वैविध्यमित्याकाङ्क्षायामाश्रयणीयरूपभेदादिति वक्तुं तन्निरूपणं प्रतिजानते सोऽपि निरूप्यत इति । अपिरनादस्य सूचनाय । तत्र “लीलया परमेश्वराः” “वरदेशा वयं त्रयः” इत्यादिवाक्यैर्गुणदेवानां त्रयाणां पुराणेषु तुल्यतानिरूपणात्तौल्येऽपि सरस्वतीशापादिना ब्रह्मणः पूज्यत्वापगमान्मोक्षस्य सृष्टिविधातकत्वेन स्वकार्यप्रतिबन्धकत्वाच्च स मोक्षं न ददातीति तदर्थमनाश्रयणीयतां तस्योपपादयन्ति ब्रह्मेत्यादि । ब्रह्मा रजोयुक्तोऽभिमानी अनभिमानी वा ब्राह्मणतां ब्रह्म वेदः परब्रह्म वा तज्ज्ञातृतां वर्णविशेषाभिमानीब्रह्माख्यदेवताधिष्ठानतां वा यातस्तद्रूपेण ब्राह्मणरूपेण सुतरां ब्रह्मज्ञानार्थं वेदाध्ययनार्थं ब्रह्मवर्चसाद्यर्थं च सेव्यते, न तु मोक्षदातृत्वेन ॥१०॥

परतःमोक्ष द्विधा है, यानि दो प्रकार का है। इसलिए इन दोनों को बताने वाले शास्त्र भी दो हैं- यह अर्थ है। इसके अंतर्गत दो शास्त्र इसलिए हैं क्योंकि दोनों प्रकारों में आश्रयणीयस्वरूप भी दो (विष्णु और शिव) हैं अतः उनके विषय में भी बताने के लिए आपश्री सोऽपि निरूप्यते इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। अपि शब्द से ज्ञात होता है कि, आपश्री को इस मोक्ष के प्रति कोई रुचि नहीं है, अपितु आपश्री तो केवल इनका निरूपण ही कर रहे हैं। यद्यपि “लीलया परमेश्वराः”, “वरदेशा वयं त्रयः”

इत्यादि वाक्यों के अनुसार सत्त्वरजतम गुणों के अधिष्ठाता ब्रह्मा-विष्णु-शिव इन तीनों देवताओं का पुराणों में समानरूप से निरूपण हुआ है, तथापि, सरस्वती का शाप लगने के कारण ब्रह्माजी में से पूज्यत्व निकल गया है और चूँकि ब्रह्माजी तो सृष्टिकर्ता हैं और मोक्ष तो इसके विपरीत सृष्टि का विघात करता है अतः ब्रह्माजी के अपने खुद के कार्य में प्रतिबन्धक होता होने के कारण ब्रह्माजी मोक्ष नहीं देते- इन सभी बातों के आधार पर आचार्यचरण ब्रह्माजी मोक्ष प्राप्त करने के लिए आश्रयणीय नहीं हैं, यह बात ब्रह्मा इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातः इत्यादि शब्दों का अर्थ है- रजोगुण के अभिमानी ब्रह्माजी या अनभिमानी ब्रह्माजी ब्राह्मणता को प्राप्त हो गए हैं, अर्थात् ब्रह्म को यानि वेद को जानने वाले हैं। अथवा तो ब्राह्मण नामक वर्णविशेष के मूलरूप हैं, तद्रूपेण यानि ब्राह्मणरूप से उनकी सेवा तो अपेक्षाकृत ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए, वेदाध्ययन करने के लिए, ब्रह्मतेज प्राप्त करने के लिए की जाती है, मोक्षदाता के रूप में नहीं ॥१०॥

तत्र गमकमाहुस्ते सर्वार्था न चाद्येनेति । ते चत्वारोऽर्थाः ब्रह्मणा न किन्तु द्वित्रा एव । ते वा सेवितारः । ब्रह्मणा प्राप्तसर्वार्था न किन्तु यत्किञ्चिद्वन्तः । दृश्यते हि श्रुत्यादौ मनोरिन्द्रस्य च वेदाध्ययनायाऽऽत्मज्ञानाय च ब्रह्मसेवा । “ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पतिमि”ति पुराणवाक्यम् । सुन्दोपसुन्दहिरण्यकशिपुप्रभृतीनामर्थकामावेव, न तु कस्याऽपि मोक्षदानमिति । देवकीनन्दनास्तु -- तद्वत्तार्थकामयोरप्यग्रे नाशहेतुत्वादपुरुषार्थत्वमाहुः । अतः परं टीकान्तरमतं मया न लिख्यते । व्याख्यानस्य क्लिष्टत्वात् । स्वस्य यथा भातं तथैव लिख्यते ।

मोक्षदाता के रूप में ब्रह्माजी की सेवा नहीं की जाती, इसमें प्रमाण देने के लिए आपश्री ते सर्वार्था न चाद्येन इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसका अर्थ हुआ- ब्रह्मा ये चारों पुरुषार्थ नहीं देते अपितु दो या तीन पुरुषार्थ ही देते हैं। अथवा ते का अर्थ "वे सेवा करने वाले" यों कर लें; इसका अर्थ होगा- वे ब्रह्मा की सेवा करने वाले ब्रह्माजी से चारों पुरुषार्थ प्राप्त नहीं करते अपितु एक या दो पुरुषार्थ ही प्राप्त करते हैं। श्रुतियों में भी वर्णन आता है कि, मनु एवं इन्द्र ने वेदाध्ययन और आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए ब्रह्माजी की सेवा की है। पुराण में भी ब्रह्माजी के लिए "ब्रह्मतेज प्राप्त करने के लिए ब्रह्माजी का यजन करना चाहिए(श्री०भा-२/३/२)" यों कहा गया है। सुन्द-उपसुन्द नामक दो भाईयों के लिए और हिरण्यकशिपु जैसों के लिए ब्रह्माजी ने क्रमशः 'अर्थ' और 'काम' ही दिए थे, इनमें से किसी को भी मोक्षदान नहीं किया। देवकीनन्दनजी तो ऐसा कहते हैं कि- चूँकि ब्रह्माजी द्वारा दिए गए 'अर्थ' और 'काम' दोनों कालान्तर में नाश के हेतु बने हैं अतः उनके द्वारा दिए गए पुरुषार्थों को पुरुषार्थ मानना ही नहीं चाहिए। अब इसके पश्चात् मैं अन्य टीकाकारों का मत नहीं लिख रहा हूँ, क्योंकि इसके बाद का व्याख्यान उन्होंने कठिन कर दिया है। अब मुझे जैसा भासित हो रहा है, मैं वैसा ही लिख रहा हूँ(अथवा इन टीकाकारों को जैसा भासित हुआ वैसा उन्होंने लिखा है)।

तर्हि मोक्षदानसामर्थ्यं किं मानमत आहुः शास्त्रमित्यादि । मोक्षशास्त्रं वैखानसतन्त्रादिरूपं किञ्चिदुदीरितं यथा धर्मार्थकामा अध्यायानां शतसहस्रेण सप्रपञ्चमुक्तास्तथेदं नोक्तं किन्तु सङ्क्षिप्तमुक्तम् । भगवति देवत्वं प्रतिपाद्य तेन गुरुत्वोपाधिना मोक्षप्रयोजको भवतीति सामर्थ्यं विद्यते, परन्तु देवत्वोपाधिना न ददातीति नाऽऽश्रीयत इत्यर्थः । एवं तस्याऽनाश्रयणीयत्वे द्वयोरेव मोक्षदातृत्वान्मोक्षे द्वैविध्यमित्याशयेनाऽऽहुरत इत्यादि । यतो ब्रह्मा न स्वयं देवत्वेन मोक्षदो न वा देवत्वेन मोक्षशास्त्रप्रवर्तकः, अतः शिवः चकारात्तद्भजनं विष्णुः चकारात्तद्भजनं जगतः सर्वस्य हितकारकौ भजनेन चतुर्वर्गदातारौ ॥११॥

अब आगे यह प्रश्न होता है कि, ब्रह्माजी मोक्षदान करने में समर्थ हैं कि नहीं ? तो आचार्यचरण शास्त्रं इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- ब्रह्माजी ने मोक्षशास्त्र यानि कि उनका लिखा वैखानसतन्त्र किञ्चिदुदीरितं यानि अल्पमात्रा में कहा है; इसका तात्पर्य यह कि उन्होंने जिस प्रकार धर्म-अर्थ-काम इत्यादि पुरुषार्थों के विषय में एक लाख अध्यायों द्वारा विस्तार से कहा है, वैसे विस्तारपूर्वक मोक्ष के विषय में नहीं कहा अपितु संक्षेप में कहा है। हाँ, भगवान में देवत्व का प्रतिपादन करने के द्वारा एक गुरु की उपाधि लेने के रूप में ब्रह्माजी मोक्ष के प्रयोजक बनते हैं- इस दृष्टिकोण से उनमें मोक्ष देने की सामर्थ्य है, परन्तु एक देवता के रूप में वे मोक्ष नहीं देते अतः वे मोक्षप्राप्ति के लिए आश्रयणीय नहीं हैं- यह अर्थ है। इस प्रकार से ब्रह्माजी को मोक्ष के लिए अनाश्रयणीय बताकर, विष्णु और शिव यह दोनों ही मोक्षदाता सिद्ध होते हैं अतः

मोक्ष इन दोनों देवताओं के अनुसार दो प्रकार का है- यह कहने के आशय से आपश्री अतः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य यह कि, चूँकि ब्रह्मा स्वयं देवता के रूप में मोक्षदाता नहीं है और न ही देवता के रूप में मोक्षशास्त्र के प्रवर्तक ही, अतः 'शिव' और उनका भजन एवं 'विष्णु' और उनका भजन करना जगतः हितकारकौ अर्थात् सभी के लिए हितकारक है, यानि भजन करने के द्वारा विष्णु और शिव चारों पुरुषार्थों के दाता सिद्ध होते हैं ॥११॥

वस्तुनः स्थितिसंहारौ कार्यौ शास्त्रप्रवर्तकौ ।

ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् सर्वात्मकतयोदितौ ॥१२॥

निर्दोषपूर्णगुणता तत्तच्छास्त्रे तयोः कृता ।

भोगमोक्षफले दातुं शक्तौ द्वावपि यद्यपि ॥१३॥

भोगः शिवेन मोक्षस्तु विष्णुनेति विनिश्चयः ।

किञ्च, वस्तुनः स्थितिसंहारौ कार्यौ विष्णुशिवयोरवश्यकर्तव्यौ । तावपि शास्त्रस्य चतुर्वर्गविषयस्य श्रुतिसमानाधिकरणपञ्चरात्रस्य तादृशपाशुपतस्य च प्रवर्तकौ । उत्पद्यमानानामतिपराधीनत्वादप्रौढत्वाच्च न स्वतः प्रवृत्तिर्मोक्षादिवीप्सा दुःखभीतिश्च । ततः स्थितानां संहरिष्यमाणानां स्थित्यादिना सुखदुःखाद्यनुभवात्प्रौढत्वाच्च या चतुर्वर्गेषा तदर्थं प्रवृत्तिर्भीतिश्च सा स्थितिसंहारप्रयुक्तैवेति तादृशां दर्शने दयया श्रुत्यविरुद्धशास्त्रकरणमिति तावेव प्रवृत्तिप्रयोजकौ । अतः स्वकार्याप्रतिबन्धादपि तौ तथेत्यर्थः ।

विष्णु और शिव चारों पुरुषार्थ तो देते ही हैं, साथ ही साथ इन्हें वस्तुओं की 'स्थिति' और 'संहार' ये दो कार्य भी अवश्य करने होते हैं। विष्णु और शिव ये दो कार्य तो करते ही हैं, तथापि चारों पुरुषार्थों को बताने वाले क्रमशः श्रुतिसम्मतपञ्चरात्रस्मृति एवं श्रुतिसम्मतपाशुपतशास्त्र के प्रवर्तक भी हैं, यानि इन शास्त्रों का निर्माण करने वाले भी हैं। अब संसार की परिस्थिति तो यह है कि, जो जीव इस संसार में उत्पन्न हो रहे हैं, वे जन्म के समय अति पराधीन होते हैं एवं अल्पबुद्धि होते हैं, इसलिए उनमें स्वतः स्वाभाविकरूप से संसारचक्र से छूटकर मोक्ष आदि पुरुषार्थ प्राप्त करने की लालसा नहीं जागती और न ही इन्हें सांसारिकदुःखों से भय ही लगता है, अपितु ये उनके अभ्यस्त होते चले जाते हैं। अब ऐसे संसार में रहने वाले जीव जिनका आगे जाकर संहार होना है, उन्हें संसार में रहते हुए जब सुख-दुःख का अनुभव होता है, तब वे प्रौढबुद्धि बनते हैं और तब उनमें चारों पुरुषार्थ प्राप्त करने की इच्छा भी जाग्रत होती है; इन पुरुषार्थों को प्राप्त करने के लिए उनकी प्रवृत्ति और संसार से भयभीत होने का मूलकारण क्रमशः उनका संसार में रहना और उनका संहार होना है, क्योंकि जब वे संसार में रहेंगे, तभी तो उन्हें सुख-दुःख का अनुभव होगा और संसार की कटुता का अनुभव होगा; और जब उन्हें संहार/मृत्यु का भय होगा, तभी तो वे पुरुषार्थप्राप्ति का यत्न करेंगे ! इसलिए उन जीवों को इस प्रकार से भयभीत देखकर दोनों देवताओं ने सोचा कि ये जीव संसार के दुःख भुगत रहे हैं अतः उन्हें इन जीवों पर दया आयी और उन्होंने इनका कल्याण करने के लिए श्रुतिसम्मत दोनों शास्त्र बनाए; इस कारण जीवों को पुरुषार्थों की ओर ले जाने वाली प्रवृत्ति के प्रयोजक विष्णु और शिव ही सिद्ध होते हैं। इसलिए अपने कार्य में प्रतिबन्धक न आता होने के कारण भी इन दोनों देवताओं ने उक्त दो शास्त्रों का निर्माण किया- यह अर्थ है।

क्वचित्तु 'वस्तुनः स्थितिसंहारे कार्ये' इति पाठः । तथा 'वस्तुस्थितौ च संहारे च कार्ये' इत्यपि पाठः । तदा वस्तुनः स्थितिसहिते संहारे, वस्तुस्थितौ संहारे च कार्ये कर्तव्ये सति यच्छास्त्रं धर्मादिजनकं मोहकं वामादिकं च तस्य प्रवर्तकौ । तेनाऽमुग्धानां साक्षात् मुग्धानां च मोहतास्तम्येन सन्निकृष्टविप्रकृष्टपरम्परया धर्मादीनामधर्मादिनिवृत्तेश्च जनकावतस्तथेत्यर्थो ज्ञेयः । इदमपि पुराणेषूक्तम् । तथा च कूर्मपुराणे देवदारुवनस्थानां गौतमशप्तानां मुनीनां प्रसङ्गे 'न वेदबाह्ये पुरुषे पुण्यलेशोऽस्ति शङ्कर' इत्युपक्रम्य 'तस्माद्वै वेदबाह्यानां रक्षणार्थाय पापिनाम् । विमोहनानि शास्त्राणि करिष्यामो वृषध्वज । एवं संबोधितो रुद्रो माधवेनाऽसुरारिणा । चकार मोहशास्त्राणि केशवोऽपि शिवेरितः । कापालं लागुडं वामं भैरवं पूर्वपश्चिमम् । पाञ्चरात्रं पाशुपतं

तथाऽऽन्यानि सहस्रशः' इति । अत्र शास्त्राणां विमोहनत्वस्य रक्षणार्थत्वस्य चोक्त्या पापादिना दुर्भाग्ययोगेन तत्र प्रवेशेऽपि बहुजन्मविपाकेनाऽधर्मनिवृत्तौ पुनः सन्मार्गलाभ इति सूचितम् । तेन न शङ्कालेशः ।

कहीं-कहीं पर वस्तुनः स्थितिसंहारे कार्ये यों तो कहीं पर वस्तुस्थितौ च संहारे कार्ये ऐसा पाठ भी प्राप्त होता है। यदि पहले वाला पाठ मानें, तो इसका अर्थ होगा- वस्तुओं की स्थितिसहित संहाररूप कार्यो के प्रवर्तक विष्णु और शिव हैं। और यदि दूसरा वाला पाठ मानें, तो अर्थ होगा- वस्तुओं की स्थिति और संहाररूप दोनों कार्यो को करना इनका कर्तव्य है(यहाँ संहार होने का अर्थ है- जीव को मोहित करके उसे संसार में उलझाए रखना)। अतः अपने कर्तव्य के अनुसार धर्मादिजनक एवं मोहक-वाममार्गीय शास्त्रों को बनाने वाले क्रमशः विष्णु और शिव हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि, संसार से मोहित न हुए(अमुग्ध)जीवों के तो उनमें धर्मादि का संपादन कराने एवं अधर्म की निवृत्ति कराने के जनक बनते हैं; और जो संसार से मोहित(मुग्ध)हैं, उन्हें उनके मोहानुसार अर्थात् यदि थोड़े मोहित हैं तो शीघ्र(सन्निकृष्ट)और यदि अधिक मोहित हैं तो विलम्ब(विप्रकृष्ट)से धर्मादि का संपादन एवं उनके अधर्मादि की निवृत्ति कराने के जनक बनते हैं। अतः इस दृष्टिकोण से इन दोनों को वस्तुओं की स्थितिसहित संहाररूप कार्यो के प्रवर्तक कहा गया- यह अर्थ है। इन देवताओं द्वारा जीवों को मोहित करने या उनका उद्धार करने की बात पुराणों में भी कही गयी है। कूर्मपुराण में देवदारुवनस्थित गौतममुनि से शापित हुए मुनियों के प्रसंग में "विष्णु ने शिव से कहा- हे शिव ! वेद से बहिर्मुख पुरुष में लेशमात्र भी पुण्य नहीं है(कूर्मपुराण/पूर्वभाग/16/109)" इस वाक्य से आरम्भ करके "वेद से बहिर्मुख होने के कारण हमें उनकी रक्षा करनी है नहीं तो वे सभी नरक में ही पड़े रहेंगे, उनका उद्धार कभी भी नहीं हो पायेगा। वेद से बहिर्मुख पापियों की रक्षा करने के लिए इन्हें व्यामोहित कर देने वाले शास्त्र बनाने चाहिए। तब शिव एवं केशव ने 'कापाल', 'लागुड', 'वामभैरव', 'पञ्चरात्र', 'पाशुपत' इत्यादि अनेक मोहकशास्त्र बनाए(कूर्मपुराण/पूर्वभाग/16/111,112,113)" यहाँ तक के वाक्य में उपर्युक्त बात बतायी गयी है। उपरोक्त पुराणवाक्यों में यह बात बतायी गयी है कि, इन देवताओं के बनाए शास्त्र जीवों को मोहित भी करते हैं एवं उनका रक्षण भी करते हैं। यह बात बता कर आगे यह सूचित किया गया है कि, जीव पापकर्म आदि करने के द्वारा दुर्भाग्य से जब इन मोहकशास्त्रों की ओर भी मुड़ जाते हैं, तब भी अनेक जन्म लेने के पश्चात् जब उनके कर्म पक जाते हैं, तब उनके अधर्म की निवृत्ति भी होती है, और तब वे पुनः सन्मार्ग को भी प्राप्त कर लेते हैं, यानि वेद से बहिर्मुख होने के कारण यद्यपि उनकी गति अन्धन्तम नरक में होती एवं उनका उद्धार कभी होता ही नहीं और उन्हें सन्मार्ग कभी प्राप्त होता ही नहीं, परन्तु वे इससे बच जाते हैं और इस प्रकार ये शास्त्र अथवा ये देवता उनकी रक्षा करते हैं, यह अर्थ है। उपर्युक्त विवेचन समझ जाने पर अब लेशमात्र भी शंका नहीं करनी चाहिए कि इन्होंने मोहकशास्त्र क्यों बनाए।

ब्रह्ममीमांसायां तर्कपादे "पत्युरसामञ्जस्यात्" इत्यनेन यदीश्वरस्य केवलनिमित्तत्वमिति वादस्य दूषणं तथा 'उत्पत्त्यसम्भवात्' इत्यादिना सृष्टिप्रक्रियांशस्य यद्दूषणं पाशुपतपञ्चरात्रयोस्तदेतदीययोरेव । न तु श्रुत्यविरुद्धयोः । इदं यथा तथा प्रहस्ताख्ये वादे निपुणतरमुपपादितमस्माभिः ।

अब शंका यह होती है कि, पाशुपतमत में एवं पञ्चरात्र में भी श्रुतिविरुद्ध बातें आयी हैं, फिर देवताओं ने ऐसे श्रुतिविरुद्धमत का प्रवर्तन क्यों किया ? तो इसके समाधान में यह समझना चाहिए कि, यद्यपि ब्रह्ममीमांसा के तर्कपाद में "पत्युरसामञ्जस्यात्(ब्र0सू-2/2/37)" इस सूत्र द्वारा पाशुपतमत में कहे "ईश्वर तो इस सृष्टि का केवल निमित्तमात्र है और कुछ नहीं" इस मत का खंडन किया गया है; साथ ही साथ "उत्पत्त्यसम्भवात्(ब्र0सू-2/2/42)" इस सूत्र द्वारा पञ्चरात्रस्मृति में बतायी गयी सृष्टिप्रक्रिया में भी दोष होना बताया गया है, तथापि ये समझिए कि व्यासजी ने इन दोनों सूत्रों के द्वारा ऊपर कहे मोहकपाशुपतशास्त्र एवं मोहकपञ्चरात्रशास्त्र का ही खंडन किया गया है, श्रुतिसम्मतपाशुपत एवं श्रुतिसम्मतपञ्चरात्र का नहीं। इस संदर्भ की पूरी बात मैंने अपने प्रहस्तवाद में निपुणतर ढंग से कही है।

ननु श्रुत्यविरुद्धे शास्त्रे तौ कथं हितकारकतया प्रतिपादितावित्याकाङ्क्षायां तत्प्रमेयं सङ्गहेणाऽऽहुर्ब्रह्मैवेत्यादि । ब्रह्मैव तादृशं शिवरूपं विष्णुरूपं च । अथर्वशिखास्वथर्वशिरःश्वेताश्वतरीयमन्त्रोपनिषत्कैवल्योपनिषत्सु शिवरूपेण

महानारायणोपनिषद्नारायणोपनिषन्महोपनिषत्सु बालोपनिषत्सु विष्णुरूपेण च ब्रह्मण एव प्रतिपादनात् । तत्तच्छास्त्रे श्रुत्यविरुद्धे पाशुपते पञ्चरात्रे च यस्माद्धेतोः सर्वात्मकतयोदितौ निमित्तोपादानात्मकत्वेनोक्तौ । निर्दोषपूर्णगुणता तयोः कृता । तेन ब्रह्मत्वमेव तयोः स्फुटीकृतम् ।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, यदि पाशुपतमत और पञ्चरात्र ये दोनों श्रुतिसम्मत शास्त्र हैं, तो फिर इन शास्त्रों में विष्णु और शिव को क्यों हितकारकरूप से प्रतिपादित किया गया, क्योंकि श्रुति तो केवल ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती है अतः इन शास्त्रों में ब्रह्म का प्रतिपादन होना चाहिए था !! यह आकांक्षा होने पर आपश्री इन शास्त्रों के सिद्धान्त को संग्रहीत करके उनके विषय में ब्रह्मैव इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। इससे आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, वास्तव में तो ब्रह्म ही शिवरूप हो जाते हैं और ब्रह्म ही विष्णुरूप भी। तात्पर्य यह कि अथर्वशिखाओं में अथर्वशिर, श्वेताश्वतरोपनिषद्, मन्त्रोपनिषद्, कैवल्योपनिषद् में ब्रह्म को ही शिवरूप से दर्शाया गया है एवं महानारायणोपनिषद्, नारायणोपनिषद्, महोपनिषद्, बालोपनिषद् में विष्णुरूप से ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है। तत्तच्छास्त्रे यानि श्रुति से अविरुद्ध पाशुपतशास्त्र एवं पञ्चरात्रस्मृति में विष्णु और शिव को उपर्युक्त कारण से ही सर्वात्मकरूप से कहा गया है, यानि इस जगत के निमित्तोपादानात्मकरूप से कहा गया है। और इसी कारण दोनों शास्त्रों में दोनों देवताओं की निर्दोषपूर्णगुणता भी कही गयी है। इसलिए ये समझ लेना चाहिए कि, दोनों देवताओं का इस प्रकार से वर्णन करने के द्वारा उनमें ब्रह्मत्व होना ही बताया गया है।

पाशुपते हि पशुपतिना पशुपाशविमोक्षणाय 'अथाऽतः पाशुपतं योगविधिं व्याख्यास्यामः' इत्यादिना कार्यकारणयोगविधिदुःखान्ताख्यैः पञ्चभिरध्यायैः - कार्यरूपो जीवः पशुः, कारणं पशुपतिरीश्वरः, योगः पशुपतौ चित्तसमाधानं, विधिर्भस्मना त्रिषवणादिस्ततो दुःखान्तसञ्ज्ञो मोक्षश्चोक्तः । एवं पञ्चरात्रेऽपि --भगवानेवैको वासुदेवो निरञ्जनज्ञानस्वरूपः परमार्थत्त्वम् । स सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धैः सह चतुर्व्यूहः । तमभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययौगैर्यावजीवमिष्ट्वा क्षीणक्लेशो भगवन्तमेव प्रतिपद्यत इत्युक्तम् । तेन प्रमेयं श्रुत्यविरुद्धम् । तत्र देवतान्तरत्ववादस्तु श्रुतिपुराणविरोधादुपेक्ष्यः । आग्रहवादिनस्तु प्रतर्दनाख्यायिकावदनुगमाधिकरणेन दत्तोत्तरा इति प्रमेयमविरुद्धम् । साधनं चोभयत्राऽपि तत्तदुक्तप्रकारेण तत्पूजनम् । तदपि पुराणाविरुद्धम् । तेन तयोरपि मोक्षशास्त्रत्वमिति भावः ।

पाशुपतशास्त्र में चूँकि ब्रह्म को ही शिवरूप से कहा गया है अतः पाशुपतशास्त्र में पशुपति-शिव के द्वारा पशुओं/जीवों को संसार के पाश से मुक्त कराने के लिए "अथाऽतः पाशुपतं योगविधिं व्याख्यास्यामः(पाशुपतसूत्र 1/1)" इत्यादि सूत्रों के द्वारा (1)कार्य(2)कारण(3)योग(4)विधि(5)दुखान्त नामक पाँच अध्यायों के माध्यम से (1)कार्य= जीव यानि पशु, (2)कारण= पशुपति ईश्वर, (3)योग= पशुपति में चित्त को लगाना, (4)विधि= भस्म से तीन बार स्नान करना आदि, और (5)इन सभी के द्वारा दुःखों का अन्त हो जाने रूपी मोक्ष प्राप्त होना कहा गया है। इसी प्रकार पञ्चरात्र में भी कहा गया है- भगवान वासुदेव ही निरञ्जन ज्ञानस्वरूप परमार्थतत्त्व हैं। वे संकर्षणप्रद्युम्न आदि व्यूहों के संग चतुर्व्यूहस्वरूप हैं। और पञ्चरात्र में बताया गया है कि, (1)भगवान की ओर मुडना(अभिगमन)(2)चित्त में भगवान को ग्रहण करना(उपादान)(3)उनकी पूजा करनी(ईज्या)(4)उनका चिंतन करना(स्वाध्याय)(5)उनसे जुड़ना(योग) इत्यादि पाँच प्रकारों द्वारा जीवनपर्यन्त यजन करके जीव अपने सांसारिकक्लेशों का नाश करते हुए भगवान के ही शरणागत होता है। इसलिए पाशुपत एवं पञ्चरात्र दोनों के सिद्धान्तों में ब्रह्मप्राप्ति की ही बात कही गयी है अतः इनके सिद्धान्त श्रुति से विरुद्ध नहीं जाते। अब कोई यदि ये कहे कि विष्णु और शिव तो अन्य दूसरे देवताओं की ही तरह हैं अतः इन्हें ब्रह्म क्यों माना जाय ! तो उनकी यह बात श्रुतिपुराण से विरुद्ध जाती है इसलिए ऐसा कहने वालों की तो उपेक्षा ही कर देनी चाहिए क्योंकि श्रुतिपुराणों में विभिन्न देवताओं के माध्यम से ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है। फिर भी यदि किसी को विशेष आग्रह हो कि इन्हें देवता ही माना जाय, ब्रह्म क्यों माना जाय, तो उन्हें ब्रह्मसूत्र के अनुगमाधिकरण(1/1/28) में 'प्रतर्दन' नामक ऋषि की कथा का संदर्भ देकर जो स्पष्टीकरण किया गया है, उसे पढ़ लेना चाहिए और इसी के द्वारा हमने उन्हें उत्तर दे दिया समझो अतः इन शास्त्रों का सिद्धान्त श्रुतिविरुद्ध नहीं है(देखें ब्रह्मसूत्र प्रथमाध्याय का संपूर्ण प्रथमपाद एवं कौषीतकी उपनिषद् 3/2 का संदर्भ)। कौषीतकी उपनिषद् में इन्द्र ने प्रतर्दन नामक ऋषि से कहा- मैं ज्ञानस्वरूप प्राण हूँ, आप मेरी उपासना करें। तब प्रश्न यह उठ खड़ा हुआ कि 'प्राण' किसका वाचक है- इन्द्र का, प्राणवायु का,

जीवात्मा का, अथवा ब्रह्म का ? तब उक्त ब्रह्मसूत्र में ये बात सिद्ध की गयी कि सभी कुछ ब्रह्म ही हैं। इन देवताओं से पुरुषार्थ प्राप्त करने के लिए जो साधन करने होते हैं, उन साधनों का अर्थ भी उन-उन के शास्त्रों के अनुसार उनका पूजन करना है और इनका पूजन करना भी पुराणों से विरुद्ध नहीं है, इसलिए उपर्युक्त समस्त कारणों से पाशुपत और पञ्चरात्र भी मोक्षप्राप्त कराने वाले प्रामाणिक शास्त्र सिद्ध होते हैं- यह भाव है।

इदं सर्वं भारते मोक्षधर्मे उक्तम् । 'साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा । ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै । साङ्ख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते । हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नाऽन्यः पुरातनः । अपान्तरतमश्चैव वेदाचार्यः स उच्यते । प्राचीनगर्भं तमृषिं प्रवदन्तीह केचन । उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः । ऊचिवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः । पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम् । सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते । यथागतं तथाज्ञानं निष्ठा नारायणः प्रभुः । न चैनमेवं जानन्ति तमोभूता विशाम्पते । तमेव शास्त्रकर्तारः प्रवदन्ति मनीषिणः । निष्ठा नारायणमृषिं नाऽन्योऽस्तीति वचो मम^१ । निःसंशयेषु सर्वेषु नित्यं स वसते हरिः । निःसंशयान् हेतुबलान्नाऽध्यावसति माधवः^२ इति । अत्र साङ्ख्य्यादीनां पञ्चानां भगवत्परत्वं 'निष्ठा नारायणः प्रभुः' इत्यन्तेनोक्त्वा 'न चैनमि'त्यर्द्धेन एवं ब्रह्मरूपेण न जानन्ति किन्तु देवतारूपेणाऽऽत्मरूपेणेति फलभेदे हेतुरुक्तः । ततः 'तमेव शास्त्रे'ति श्लोकेन शास्त्रकर्तृणां स्वस्य चाऽऽशय उक्तः । अत्र प्रवदन्तीत्यस्य बोधयन्तीत्यर्थः 'तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ती'तिवत् । किञ्च । ऋषिपदेन मन्त्रद्रष्टृत्वबोधनात्तेष्वाविश्य तत्तत्प्रकाशकत्वं बोधितम् । ततो 'निःसंशयेष्विति'श्लोकेन तमोभिभूतानां स्वरूपावस्थानमात्रं देवतारूपादेव तत्सायुज्यान्तं 'फलञ्च, न तु भगवदानन्दो भगवद्वत्तो वा भजनानन्द इति निरूपितम् । तेन तन्मोक्षस्य स्मार्तत्वाल्लौकिकत्वं समर्थितम् ।

यह सभी कुछ महाभारत के मोक्षधर्म में [“वैशम्पायन ने राजा जनमेजय के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा- सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, वेद और पाशुपतशास्त्र; इनके ज्ञानों को तुम भिन्न भिन्न मत समझो(64)। सांख्यशास्त्र के वक्ता कपिलजी हैं। योगशास्त्र के ज्ञाता हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी ही हैं, दूसरा कोई नहीं(65)। मुनिवर अपान्तरतमा वेद के आचार्य हैं, उन्हीं को कुछ लोग प्राचीनगर्भ कहते हैं(66)। ब्रह्माजी के पुत्र भूतनाथ शिवजी ने पाशुपतमत का उपदेश दिया है(67)। सम्पूर्ण पाञ्चरात्र के ज्ञाता तो भगवान नारायण ही हैं। यदि वेदशास्त्र और अनुभव के आधार पर विचार किया जाय, तो उपरोक्त समस्त ज्ञानों में इनका परमतात्पर्य तो भगवान नारायण ही दिखाई देते हैं(68)। जो तमोगुण से अभिभूत हैं, वे ब्रह्म को इन रूपों से नहीं जानते(69)। शास्त्र के रचयिता ज्ञानीजन नारायण को ही समस्त शास्त्रों का परमलक्ष्य बताते हैं। दूसरा कोई उनके समान नहीं है- यह मेरा(वैशम्पायन)कथन है(70)। ज्ञान के बल से जिनके संशयों का निवारण हो गया है, उन सब के भीतर श्रीहरि सदा निवास करते हैं। परन्तु कुतर्क के बल से जो संशयों में पड़े रहते हैं, उनके भीतर भगवान माधव का निवास नहीं है(71)-(महाभारत/शान्तिपर्व/मोक्षधर्म/349/64-71)।”] इत्यादि वाक्यों द्वारा कहा गया है। इन वाक्यों में सांख्य-योग-पञ्चरात्र-वेद-पाशुपत ये पाँचों शास्त्र भगवत्परक हैं, यह बात "निष्ठा नारायणः प्रभुः(श्लोक सं-69)" इस वाक्य द्वारा कहकर तत्पश्चात् "न चैनम्(श्लोक सं-69)" इस अर्धवाक्य द्वारा यह बताया गया है कि, जो विष्णु-शिव को ब्रह्मरूप से न जानकर केवल देवता मानकर इनका भजन करता है, अपनी आत्मा को देवतारूप मानता है उसकी फलप्राप्ति में अंतर आ जाता है अर्थात् ब्रह्मरूप जानता तो उत्कृष्टफल प्राप्त होता परन्तु यदि देवतारूप ही जानकर भजन करता है, तो इन देवताओं की सीमित सामर्थ्यानुसार सीमित फलप्राप्ति होगी- यह अर्थ है। इसके पश्चात् "तमेव शास्त्रकर्तारः(श्लोक सं-70)" इस श्लोक द्वारा शास्त्रकारों का एवं स्वयं वैशम्पायन ने अपना अपना आशय बताया है कि, समस्त शास्त्रों का परमलक्ष्य तो नारायण ही हैं। उपर्युक्त महाभारतवाक्य में 'प्रवदन्ति(श्लोक सं-70)' का अर्थ 'बोधयन्ति' समझना चाहिए, यानि "शास्त्रकार सभी शास्त्रों का परमलक्ष्य नारायण हैं, यह कह रहे हैं" इस पंक्ति का वास्तविक अर्थ है- "नारायण परमलक्ष्य हैं, इस बात का वे बोध करा रहे हैं"। जैसा कि "तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति(कठो-1/2/15)" इस श्रुतिवाक्य में भी 'वदन्ति' का अर्थ 'बोधयन्ति' कहा गया है। और एक बात यह भी है कि, ऊपर कहे 70वें श्लोक में वैशम्पायन ने भगवान नारायण को

१. अपान्तरतमाश्चैवेति। २. केशवमिति। केशवेति। ३. यथाज्ञानमिति। ४. मुनिरिति। ५. अत्र प्रवदन्तीत्यारभ्य तत्तत्प्रकाशकत्वं बोधितमित्यन्तं न दृश्यते ग्रन्थः। ६. तत्तत्प्रकाशकत्वश्चेति। किञ्चेति प्रागुक्तेश्वकारप्रयोजनन्तु न पश्यामः। तदयं चकारो लेखकप्रमाद एव भाति। ७. देवतारूपादेवतासायुज्यान्तमिति। ८. फलं नत्विति चकारहीनः पाठः।

'ऋषि' पद से सम्बोधित करके भगवान नारायण को मन्त्रदृष्टा बताया है, अतः इसका अर्थ यह हुआ कि ऋषियों ने नहीं अपितु स्वयं भगवान नारायण ने ही उन-उन ऋषियों में आविष्ट होकर उक्त शास्त्रों को प्रकाशित किया है। इसके पश्चात् "निःसंशयेषु(श्लोक सं-71)" इस श्लोक द्वारा वैशम्पायन ने यह निरूपित किया है कि, जिन जीवों में तमोगुण की प्रधानता है, उन्हें मात्र अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाने रूपी फलप्राप्त होगा, अर्थात् केवल देवतारूप से अपने देवता से सायुज्य हो जाने तक का ही फल प्राप्त होगा, भगवदानन्द या भगवान द्वारा प्रदत्त भजनानन्द प्राप्त नहीं होगा; इस कारण इन पाशुपत और पञ्चरात्र में बताया गया मोक्ष स्मार्त होने के कारण लौकिकमोक्ष ही है- इस बात को समर्थन मिलता है।

न चाऽत्र पञ्चरात्रस्य नारायणवक्तृकत्वकथनात्कथं जीवविचारितत्वमिति शङ्क्यम् । 'तृतीयमृषिसर्गं वै देवर्षित्वमुपेत्य सः । तन्त्रं सात्वतमाचष्ट' इत्यादिवाक्येषु नारदवक्तृकत्वस्याऽपि कथनान्तस्याऽऽवेशित्ववदत्राऽप्यावेशिन एवं वक्तृकत्वात् । निष्ठास्थले तु पर एव परामृश्यत इति न कोऽपि विरोधः ।

अब यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि, उक्त महाभारत के श्लोकों में तो पञ्चरात्र के वक्ता भगवान नारायण को बताया है, फिर आचार्यचरण इस ग्रन्थ में इसे जीवविचारित क्यों कह रहे हैं ? नहीं... .. ये शंका उचित नहीं है क्योंकि जिस प्रकार "भगवान ने ऋषियों की सृष्टि में देवर्षि नारद के रूप में तीसरा अवतार लिया और नारदपञ्चरात्र का उपदेश किया(श्री०भा-1/3/8)" इस वाक्यानुसार नारदजी में भगवान का आवेश मानते हुए उन्हें पञ्चरात्र का वक्ता कहा जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी आचार्यचरण भगवान का आवेश मानते हुए नारदजी को पञ्चरात्र का वक्ता कह रहे हैं, अतः पञ्चरात्र का जीवविचारित होना सिद्ध होता है। किन्तु जिसे भगवान में ही पूरी निष्ठा है, उसके लिए तो महाभारत में यह बताया गया कि, मूलतः तो इसे भगवान नारायण ने ही कहा है, इसलिए इन दोनों बातों में कोई भी विरोध नहीं आता।

एवं मोक्षविषये सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहं निरूप्य पञ्चानां याथातथ्येनाऽर्थज्ञानवतां तत्तत्सिद्धान्ते प्रवृत्तानां किं तुल्यं फलमुत फलभेद इत्याकाङ्क्षायां साङ्ख्ययोगयोः स्वरूपावस्थानमात्रस्य फलस्य कथनान्तत्र तावदेव फलं तच्च पूर्वमेवाऽनूदितमिति तदनुक्त्वा पाशुपतपञ्चरात्रयोः फलं तत्प्रतिपाद्यस्वरूपविचारेणाऽऽहुर्भोगेत्यादि । तत्तच्छास्त्र उभयदातृत्वस्योक्तत्वाद् द्वावपि द्वयोर्दाने यद्यपि समर्थौ, तथापि श्रीभागवते दशमस्कन्धे 'देवासुरमनुष्येषु ये भजन्त्यशिवं शिवम् । प्रायस्ते धनिनो भोजा न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम्' इति प्रत्यक्षानुरोधिनि राजप्रश्ने 'शिवः शक्तियुतः शश्वत् त्रिलिङ्गो गुणसंयुतः । वैकारिकस्तेजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा । ततो विकारा अभवन् षोडशाऽमीषु कश्चन । उपाधावन् विभूतीनां सर्वासामश्नुते गतिम् । हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः । स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन्निर्गुणो भवेद्' इति श्रीशुकेन स्वरूपं विचार्य तादृशफलनियमसमर्थनात् भोगः शिवेन मोक्षस्तु विष्णुना इति विशेषतो निश्चयः पुराणस्य श्रुत्युपबृंहणत्वेन श्रुत्यभिप्रेतोऽयमेव निर्णय इत्यर्थः । तथा सति पुराणे श्रुतौ च यच्छिवस्य मोक्षप्रदत्वं विष्णोश्च भोगप्रदत्वं यदुच्यते तत्सामर्थ्याभिप्रायं न तु दानाभिप्रायम् । वस्तुतस्तु रूपविशेषेण फलविशेषो नियत एव । अत एव 'ईश्वराज्ज्ञानमन्विच्छेन्मोक्षमिच्छेज्जनार्दनादि'ति वाक्यम् ।

इस प्रकार से मोक्ष के संदर्भ में सर्वसिद्धान्तसंग्रह का निरूपण करके अब आचार्यचरण यह बता रहे हैं कि, जिनको इन पाँचों शास्त्रों(सांख्य, योग, पञ्चरात्र, पाशुपत, वेद)का यथार्थज्ञान है और जो इन पाँचों शास्त्रों में कहे सिद्धान्तों में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें एक समान फल प्राप्त होगा या अलग-अलग ? यह आकांक्षा होने पर यह समझना चाहिए कि 'सांख्य' और 'योग' में जीव का अपने वास्तविकस्वरूप को समझ लेना ही फल/मोक्ष बताया गया है अतः इनमें तो केवल इतना ही फल प्राप्त होता है और इस फल के विषय में आपश्री पूर्व में बता ही चुके हैं अतः अब उसे पुनः न कहते हुए 'पाशुपत' और 'पञ्चरात्र' इन दो शास्त्रों में प्रवृत्त होने वालों के लिए इन दोनों शास्त्रों में कौन सा फल प्रतिपादित किया गया है, यह आपश्री भोगमोक्षफले दातुं शक्तौ द्वावपि इत्यादि शब्दों द्वारा विचार कर रहे हैं। आपश्री इससे यह आज्ञा कर रहे हैं कि, चूँकि तत्तत् शास्त्रों में विष्णु-शिव दोनों देवताओं को भोग-मोक्ष दोनों ही फल देने वाले बताया गया है, अतः दोनों ही दोनों प्रकार के

फल देने में यद्यपि समर्थ हैं, तथापि श्रीभागवतपुराण के दशमस्कन्ध में जब राजा परीक्षित ने "शंकरजी ने तो समस्त भोगों का परित्याग कर रखा है परन्तु प्रत्यक्ष में तो यह देखा जाता है कि, जो उनकी उपासना करते हैं, वे प्रायः धनी और भोगसम्पन्न हो जाते हैं और विष्णु जो कि लक्ष्मीपति हैं, उनकी उपासना करने वाले धनी और भोगसम्पन्न नहीं होते। दोनों देवता त्याग और भोग की दृष्टि से एक दूसरे से विरुद्धस्वभाव वाले हैं परन्तु इनके उपासकों को उनके स्वभाव के विपरीत ही फल मिलता है, ऐसा क्यों ? (श्री०भा-१०/८८/१)" इस प्रकारक प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली परिस्थिति के संदर्भ में प्रश्न किया तो श्रीशुकदेवजी ने "शिवः शक्तियुतः.....भवेत्(विस्तार से देखें श्री०भा-१०/८८/३,४,५)" इत्यादि वाक्यों द्वारा देवताओं के स्वरूप का विचार करके उनके स्वरूपानुसार नियतफल देने की बात का समर्थन किया है, और यह भी बताया है कि, भगवान्पुरुषोत्तम तो गुणातीत हैं एवं जो पुरुषोत्तम का भजन करता है, वह स्वयं भी गुणातीत हो जाता है अतः श्रीशुकदेवजी ने वहाँ भोग शिव से प्राप्त होता है और मोक्ष विष्णु से यों विशेषरूप से निश्चय किया गया है; श्रीभागवत तो पुराण है और चूँकि पुराण श्रुतिसम्मत होते हैं अतः श्रुति द्वारा अभिप्रेत अर्थ भी यही है, जो उपर्युक्त भागवतश्लोक में कहा गया है- यह अर्थ है। इस परिस्थिति में सिद्ध यह होता है कि, पुराण एवं श्रुति में जो शिव द्वारा मोक्ष देने की बात एवं विष्णु द्वारा भोग देने की बात बतायी गयी है, वह उनकी सामर्थ्य बताने के उद्देश्य से बतायी गयी है; इस उद्देश्य से नहीं कि वे देते ही हैं। जबकि वास्तव में तो भगवान् ने जिस विशेष प्रकार का फल देने के लिए जिस विशेष प्रकार का स्वरूप धारण किया होता है, वे उस स्वरूप से वही फल देते हैं, यानि साधारणतया तो शिवरूप द्वारा भोग ही देंगे और विष्णुरूप से मोक्ष ही देते हैं। इसी कारण भगवान् के भिन्न-भिन्न स्वरूपों से भिन्न-भिन्न प्रकार के फल मिलते होने की बात "ईश्वर से ज्ञानप्राप्त करने की इच्छा रखनी चाहिए एवं मोक्षप्राप्त करने की इच्छा जनार्दन से रखनी चाहिए(स्कन्दपुराण)" इस वाक्य द्वारा कही गयी है।

परन्तु युक्त्यभावे एतद् बालैर्नाऽवधारयितुं शक्यमित्यतस्तत्र लौकिकीं युक्तिमाहुर्लोकेशपीत्यादि ।

लोकेऽपि यत्प्रभुर्भुङ्क्ते तत्र यच्छति कर्हिचित् ॥१४॥

स्फुटमेतत् । तथा च 'यस्याऽनवद्याचरितं मनीषिणो गृह्णन्त्यविद्यापटलं बिभित्सवः । निरस्तसाम्यातिशयोऽपि यत्स्वयं पिशाचचर्यामचरत्सतां गतिः । हसन्ति यस्याऽऽचरितं हि दुर्भगाः स्वात्मन् रतस्याऽविदुषः समीहितम् । यैर्वस्त्रमाल्याभरणानुलेपनैः श्वभोजनं स्वात्मतयोपलालितमि'त्यादिवाक्येषु पिशाचचर्याया भोगत्यागस्याऽऽत्मरतत्वस्य च कथनेन शिवस्य सर्वदा मुक्तिर्भोग्या ।

आचार्यचरणों ने ऊपर कहे श्लोक के अन्तर्गत विष्णु-शिव से कौन से पुरुषार्थ प्राप्त होते हैं, यह तो बता दिया परन्तु बालकों को जब तक युक्तिपूर्वक कोई बात न समझायी जाय, तब तक वे विषय को अपने मन में धारण नहीं कर पाते, अतः आपश्री उपर्युक्त मुद्दों को समझाने के लिए अग्रिमश्लोक में लोकेऽपि इत्यादि शब्दों से लौकिकी युक्ति दे रहे हैं।

पंक्ति का अर्थ तो खैर स्पष्ट ही है। इसका फलितार्थ यह है कि, "यस्याऽनवद्याचरितं मनीषिणो(श्री०भा-३/१४/२६,२७)" इत्यादि वाक्यों में शिव के लिए पिशाचचर्या, भोगों का त्याग एवं आत्मरति करनी(अपने आप में आनन्द करने वाले)इत्यादि बातें कही गयीं हैं अतः शिव के इन आचरणों से ज्ञात होता है कि, शिव सर्वदा मुक्ति का भोग करते हैं अतः जिस वस्तु का स्वयं शिव भोग करते हैं, उस वस्तु को वे दूसरों को नहीं देते इसलिए शिव मुक्ति नहीं देते।

'अनन्वितं ते भगवन्विचेष्टितं यदात्मना चरसि हि कर्म नाऽज्यसे । विभूतये यत उपसेदुरीश्वरीं न मन्यते स्वयमनुवर्त्ततीं भवान् । यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगतस्तथापि तस्याऽङ्घ्रियुगं नवं नवम् । पदे पदे का विरमेत तत्पदाच्चलाऽपि यच्छीर्णं जहाति कर्हिचिदि'त्यादिवाक्येष्वनपेक्षस्याऽपि लक्ष्म्या अत्यागकथनात्सर्वत्र पुरुहूतरूपेणैव प्राकट्याद्भोगो भोग्यः स्फुट एव । तेन स्वभोग्यत्वाच्छिवो मुक्तिं विष्णुर्भोगं च न ददातीत्यर्थः ।

ठीक इसी प्रकार विष्णु के लिए श्रीभागवत में "अनन्वितं ते(श्री०भा-४/७/३४)" इस वाक्यानुसार यह बताया गया है कि, वैसे तो विष्णु को लक्ष्मीजी की अपेक्षा नहीं होती, तथापि, इस बात को जानते हुए भी लक्ष्मीजी उनका त्याग कभी नहीं

करती हैं और जब कभी लोक में लक्ष्मीजी को वारंवार बुलाया जाता है, तब ही वे सर्वत्र प्रकट होती हैं, जबकि विष्णु के पास तो वे सर्वदा निवास करती हैं, इसलिए यह बात पूर्णतया स्पष्ट होती है कि विष्णु सर्वदा लक्ष्मी का भोग करते हैं, सो विष्णु जिस वस्तु का भोग करते हैं, उस वस्तु को वे दूसरों को नहीं देते इसलिए विष्णु भोग नहीं देते। इससे यह बात सिद्ध होती है कि, खुद भोग करते होने के कारण शिव मुक्ति नहीं देते और विष्णु भोग नहीं देते- यह अर्थ है।

वस्तुतस्तु “आत्मारामोऽपि यस्त्वस्य जीवलोकस्य राधसे । शक्त्या युक्तो विचरति घोरया भगवान् भवः” इति वाक्यात् घोरशक्तिनियमानुरोधेनोक्तसन्दर्भबोधितोपासकदोषेण च मोक्षं शिवो न ददाति । ‘भक्ताय चित्रा भगवान् हि सम्पदो राज्यं विभूतीर्न समर्द्धयत्यजः । अदीर्घबोधाय विचक्षणः स्वयं पश्यन्निपातं धनिनां मदोद्भवमिति वाक्याद्भोगदोषदर्शनेन ‘न मन्यते’ इति वाक्याच्छक्त्यनधीन इति स्वातन्त्र्येण च भोगं विष्णुर्न ददातीति भावः । द्वारकेश्वरा अप्येवमेवाऽऽहुः ॥१४॥

वास्तव में तो बात यह है कि, “आत्मारामोऽपि यस्त्वस्य(श्री०भा-४/२४/१८)” इस वाक्यानुसार अपनी घोरशक्ति के नियम में बँधे होने के कारण एवं उक्त श्रीभागवत के संदर्भ में बताए गए उनके उपासकों में रहने वाले दोष के कारण शिव उन्हें मोक्ष नहीं देते। इसी प्रकार विष्णु भी “भक्ताय चित्रा(श्री०भा-१०/८१/३७)” इस वाक्यानुसार भोग में दोष होता होने के कारण भोग नहीं देते, एवं “न मन्यते(श्री०भा-४/७/३४)” इस वाक्यानुसार विष्णु अपनी शक्ति(लक्ष्मी) के अधीन न होकर खुद स्वतन्त्र ही हैं, अतः जिस प्रकार से शिव अपनी घोरशक्ति के अधीन हैं, वैसे विष्णु को अपनी शक्ति के अधीन होकर भोग नहीं देना पड़ता, यानि शिव की भाँति विष्णु को अपनी शक्ति के अधीन रहकर भोग देने के लिए विवश होना नहीं पड़ता अतः विष्णु भोग नहीं देते- यह भाव है। द्वारकेश्वरजी ने भी ऐसा ही कहा है ॥१४॥

नन्वेवं सर्वथा अदाने पाशुपततन्त्रस्य मोक्षशास्त्रत्वं भज्येत । “अपत्यं द्रविणं दारा हारा हर्म्यं हया गजाः । सुखानि स्वर्गमोक्षौ च न दूरे हरिभक्तितः” इत्यादिवाक्ये उक्तं भगवद्भक्तेरपत्यादिसाधनत्वं च विरुद्धयेत्त्याशङ्कयामधिकारिविशेषे दानमाहुरतिप्रियायेत्यादि ।

अतिप्रियाय तदपि दीयते क्वचिदेव हि ।

नियतार्थप्रदानेन तदीयत्वं तदाश्रयः ॥१५॥

प्रत्येकं साधनञ्चैतद् द्वितीयार्थं महाञ्छ्रमः ।

जीवाः स्वभावतो दुष्टा दोषाभावाय सर्वदा ॥१६॥

श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिद्ध्यति ।

अतिप्रियाय परमप्रीतिविषयाय तदपि स्वभोग्यमपि दीयते । दीङ् दाने । ददाति । इदमपि लोकसिद्धम् । अन्यथा कृपणत्वं स्यात् । तत्र गमकमाहुः क्वचिदेव हीति । हि यस्माद्धेतोः क्वचिदेव पुरुषविशेष एव मयबाणसदृशे शिवो मोक्षं ददाति । उपरिचरवस्वादिसदृशे विष्णुर्भोगं ददाति । तेन अतिप्रियायैव ददातीति निश्चीयते । तस्मादुभयदानशक्तौ न सन्देहो नाऽपि मोक्षशास्त्रत्वभङ्गो न वा वाक्यविरोध इत्यर्थः । द्वारकेश्वरास्तु अतः प्रियायेति पेटुः ।

परन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, यदि शिव कभी किसी को मोक्ष दें ही नहीं, तो फिर पाशुपततन्त्र में जो उनके द्वारा मोक्ष देने की बात बतायी गयी है, वह खंडित होती है; ठीक इसी प्रकार विष्णु भी यदि कभी किसी को भोग दें ही नहीं, तो फिर पञ्चरात्र में “अपत्यं द्रविणं दारा” इस वाक्यानुसार विष्णुभक्ति को पुत्र, पत्नी, धन, संपत्ति इत्यादि भोग प्राप्त होने का साधन बताए जाने वाली बात भी विरुद्ध जाती है ! यदि कोई ऐसी शंका करता हो, तो अग्रिमश्लोक में आपश्री यह बता रहे हैं कि, ये दोनों देवता अपने स्वभाव से विपरीत फल किसी विशेष अधिकारी को ही देते हैं, सभी को नहीं- इस बात को

१. “अतः परं टीकान्तरमतं मया न लिख्यते” इति पूर्वमुक्तेऽपि यदिह टीकान्तरमतोपन्यासः स सम्मतिप्रदर्शनार्थः। न तु मतान्तरतयेति मे भाति। अन्यदीयं टिप्पणमेव वा प्रमादाद् ग्रन्थप्रविष्टं भवेत्- इति क्वचित् पुस्तकेषु लिखितम्। २. भगवद्भक्तेः स्मृत्यादिसाधनञ्चेति।

३. अतीति। “अतः परमि”त्यादिप्रतिज्ञाविरोधादत्र तु ग्रन्थबहिर्भूतत्वमनिवार्यमेव सर्वत्रोपलंभात् निराससाहसमनाश्रयणीयमेव।

आपश्री अतिप्रियाय इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- ये दोनों देवता अपने किसी अतिप्रियाय यानि परमप्रीतिभाजन भक्त को तदपि यानि खुद अपने द्वारा भोग करने वाली वस्तु भी दे देते हैं। 'दीयते' पद दीङ् धातु से बना है जो कि दान अर्थ में प्रयुक्त होती है। यह बात तो लोक में भी प्रसिद्ध है कि अपनी वस्तु तो अपने किसी प्रिय व्यक्ति को ही दी जाती है, अतः यदि देवता अपने प्रियभक्त को भी अपनी वस्तु न दें, तो वे कृपण(कंजूस)कहे जायेंगे। विष्णुशिव किसी को ही ऐसा फल देते हैं- इस बात का प्रमाण आपश्री क्वचिदेव हि इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसका अर्थ है- किसी पुरुषविशेष को यानि मय, बाण इत्यादि के जैसों को शिव मोक्ष भी दे देते हैं; और उपरिचरवसु इत्यादि के जैसों को विष्णु भोग भी दे देते हैं। इसके द्वारा यह बात निश्चित होती है कि, सर्वथा नहीं देते ऐसा नहीं है अपितु अपने किसी अतिप्रियभक्त को ही अपने स्वभाव से विपरीत फल देते हैं। इसलिए उपर्युक्त उदाहरणों के अनुसार दोनों देवता दोनों प्रकार के फलों को देने में समर्थ हैं- इसमें न कोई सन्देह है, न पाशुपतशतन्त्र में शिव द्वारा मोक्ष दिए जाने वाली बात खंडित होती है, और न ही पञ्चरात्र के वाक्यों में कोई विरोध होने जैसी ही कोई बात है। द्वारिकेश्वरजी ने अतिप्रियाय के स्थान पर अतः प्रियाय पाठ माना है।

एवमत्र साधनभेदेन फलभेदः साधितः । अतः परं तयोः शास्त्रयोर्यत्साधनं प्रतिपादितं तत्करणेऽपि कथं कस्यचिदेवाऽतिप्रियत्वमित्याकाङ्क्षायां तत्र तत्साधनोपचयात्किन्तु शास्त्रान्तरोक्तात्तदुक्ताद्वा साधनान्तरादिति वक्तुं फलबलेनाऽतिप्रियत्वसाधनमाहुर्नियतेत्यादि । अतिप्रियत्वनियतो यो भोगमोक्षरूपोऽर्थस्तस्य प्रदानेन लक्ष्म्या इव स्वस्येव (?) सम्पादनेन हेतुना तदीयत्वं तदाश्रयः एतदुभयं पुराणोक्तं समुदितं प्रत्येकं च साधनम् । तथा चैताभ्यां प्रत्येकसमुदिताभ्यामतिप्रियत्वे यथाधिकारं भोगस्य मोक्षस्य च दानमित्यर्थः ।

इस प्रकार से यहाँ आचार्यचरणों ने यह सिद्ध किया कि, यदि साधन अलग-अलग हों, तो फल भी अलग-अलग प्राप्त होता है, यानि जो भोग प्राप्त करने के लिए साधन कर रहे हैं उन्हें भोग मिलेगा और जो मोक्षप्राप्ति के साधन करेंगे उन्हें मोक्ष। अब प्रश्न यह होता है कि, इन दोनों देवताओं के दोनों शास्त्रों में इनके द्वारा फलप्राप्त करने के लिए जो साधन बताए गए हैं, वे साधन करने पर भी क्यों कोई विशेष व्यक्ति ही इनका अतिप्रिय बनता है ? यह आकांक्षा होने पर आपश्री आगे इसका स्पष्टीकरण देते हुए यह बता रहे हैं कि, कोई इनका अतिप्रिय उन साधनों को करने मात्र से ही नहीं बन जाता, अपितु अन्य शास्त्रों में बताए गए साधनों को भी करने से अथवा तो इन देवताओं द्वारा ही कहे अन्य साधनों को करने के द्वारा बनता है- यह बात बताने के लिए आपश्री इन्हें जो फल प्राप्त होता है, उस फल के आधार पर अतिप्रिय बनने का साधन नियतार्थप्रदानेन तदीयत्वं तदाश्रयः आदि शब्दों द्वारा बता रहे हैं। इससे आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि अतिप्रिय होने के लिए अनिवार्यरूप से जो भोग या मोक्ष रूपी फल होता है, यहाँ मूलपाठ व्यवस्थित प्राप्त नहीं होता-अनुवादक..... वह फल प्रदान करने के हेतु शिव और विष्णु इनमें 'तदीयत्वं' और 'तदाश्रय' प्रत्येक साधन सम्पादित करते हैं और ये दोनों साधन पुराणों में कहे भी गए हैं। इसका अर्थ यह है कि ये दोनों साधन करने के द्वारा जब भक्त इनका अतिप्रिय बनता है, तब ये दोनों देवता उसे उसके अधिकारानुसार भोग या मोक्ष का दान करते हैं। श्रीपुरुषोत्तमचरणों ने नियतार्थप्रदानेन तदीयत्वं तदाश्रयः को आगे नियतार्थप्रदाने न तदीयत्वं तदाश्रयः यों भिन्नतया अर्थ करके भी कहा है। ननु सामर्थ्यं विद्यमाने शिवो मोक्षं विष्णुश्च भोगं यन्न ददाति तदिदमौदार्यविरोधीत्यत आहुर्द्वितीयार्थे महाञ्छ्रम इति । सर्वेभ्यः साधारण्येन दीयमानाद्व्यतिरिक्तो द्वितीयः । तदर्थं तयोर्महान् प्रयासः । अतो न 'ददतः' । तथाच न ह्युदारः प्रयासं कृत्वा ददात्यपि त्वयत्नसिद्धमिति लोके दृष्टमतो न दोष इत्यर्थः ।

अब यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि, सामर्थ्य होने पर भी यदि शिव सभी को मोक्ष नहीं देते और विष्णु सभी को भोग नहीं देते, तो यह बात उनकी उदारता से विरुद्ध जाती है; तो आचार्यचरण इसका समाधान द्वितीयार्थ महाञ्छ्रमः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ 'द्वितीयार्थ' का अर्थ है- विष्णु और शिव अपने स्वभावानुसार सभी को साधारणतया जो फल देते हैं उसके अतिरिक्त दूसरा फल। यानि शिव साधारणतया तो भोग देते हैं परन्तु इसके अतिरिक्त उनके लिए द्वितीयफल देना हुआ- मोक्ष। इसी प्रकार विष्णु साधारणतया तो मोक्ष देते हैं परन्तु इसके अतिरिक्त उनके लिए द्वितीयफल देना हुआ-

भोग। आपश्री आज्ञा करते हैं- विष्णुशिव को उक्त द्वितीयफल देने के लिए बड़ा प्रयास करना पड़ता है, अतः वे नहीं देते। यह तो समझने वाली बात है कि, कोई कितना भी उदार क्यों न हो परन्तु विशेषरूप से परिश्रम करके किसी को बाँटने थोड़े ही जायेगा ! अपितु बिना प्रयत्न करके उसके पास जो वस्तु सुलभ होगी, उतना ही तो देगा ! यह बात तो लोक में भी देखी ही जाती है, अतः यदि ये दोनों देवता सभी को द्वितीयफल नहीं देते, तो इसमें कोई दोष नहीं है।

यद्वा । तदेव वक्तुं फलबलेन साधनाभावकथनपूर्वकमतिप्रियत्वस्याऽतिरिक्तं साधनमाहुर्नियतेत्यादि । साधारणेभ्यो नियतस्याऽर्थस्य प्रदाने सति न तदीयत्वं तदाश्रयश्च न । एतच्च द्वितीयार्थे साधारणदेयव्यतिरिक्तार्थे प्रत्येकमपि साधनम् । यद्येतत्स्यात्तदाऽतिप्रियत्वात्तदेव दद्यान्न तु साधारणमतस्तथेत्यर्थः ।

अथवा, श्लोक की पंक्ति का अर्थ दूसरे प्रकार से करें। मूलपाठ को नियतार्थप्रदाने न तदीयत्वं तदाश्रयः यों मानें। ऐसा पाठ मानने पर इसका अर्थ होगा- "क्यों कोई एक भक्त ही शिव और विष्णु का अतिप्रिय बनता है, सभी क्यों नहीं ?"- यह बात बताने के लिए आचार्यचरण उस भक्त को मिलने वाले फल के आधार पर ये बताना चाह रहे हैं कि कोई एक भक्त ही इनका अतिप्रिय क्यों बनता है ! आपश्री ये भी कह रहे हैं कि यदि वह सर्वसाधनशून्य हो तथापि उसके अतिप्रिय बनने का अतिरिक्त साधन क्या है ! यह सभी कुछ आपश्री नियतार्थप्रदाने न तदीयत्वं तदाश्रयः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, यदि साधारणभक्तों को ये देवता वही निश्चित फल देते हों, जो फल देने के लिए ये प्रसिद्ध हैं, तब तो वे भक्त न 'तदीय' होने सिद्ध होते हैं और न ही 'तदाश्रय' होने सिद्ध होते हैं, अपितु जब इन्हें द्वितीयार्थफल प्राप्त होता है अर्थात् इन देवताओं द्वारा जो सर्वसाधारणफल सभी को प्राप्त होता है, उससे अलग जब दूसरा फल इन्हें मिलता है, तब ही उन जीवों को इनका 'तदीय' और 'तदाश्रय' कहा जा सकेगा, अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह कि शिव से यदि भोग ही मिला और विष्णु मोक्ष ही मिला, तब तो यह बात उस भक्त में 'तदीयता' या 'तदाश्रयता' होनी सिद्ध नहीं करती क्योंकि ये फल तो दोनों देवता सभी को देते हैं। अर्थात् सामान्यफल प्राप्त होना जीव के अतिप्रिय होने के परिचायक नहीं हुआ अपितु विशिष्टफल मिलना परिचायक हुआ- यह अर्थ है। अर्थात् 'तदीयता' और 'तदाश्रयता' ये दोनों ही द्वितीयार्थ यानि दूसरा फल प्राप्त होने में, यानि कि साधारणरूप से दिए जाने वाले फल से अतिरिक्त दूसरे प्रकार का फल मिलने में साधन होते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि, यदि कोई इनका 'तदीय' या 'तदाश्रय' है, तब ही वह इनका अतिप्रिय बनता है और इसी कारण वे उसे दूसरा वाला फल देंगे, साधारणफल नहीं, अतः सामर्थ्य होने पर भी शिव सभी को 'मोक्ष' नहीं देते और विष्णु सभी को 'भोग' नहीं देते- यह अर्थ है।

ननूदारस्य साधनापेक्षा नोचितेत्यत आहुर्महाञ्छ्रम इति । अर्थस्तूक्त एव । कुतो महानित्याकाङ्क्षायां तदुपपादयन्ति जीवाः स्वभावतो दुष्टा इति ।

अब कोई ये शंका करते हैं कि, यदि ये देवता उदार ही हैं, तो फिर फलदान करने के लिए इन्हें भक्त द्वारा साधन किए जाने की अपेक्षा रखनी उचित नहीं है ! तो आपश्री इसका समाधान महाञ्छ्रमः इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। वैसे 'महाञ्छ्रम(महान श्रम)' शब्द का अर्थ हमने ऊपर तो कर ही दिया है, तथापि इन्हें महान श्रम क्यों होगा, यह आपश्री जीवाः स्वभावतो दुष्टाः इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। अध्येताओं को ध्यान रखना चाहिए कि श्रीपुरुषोत्तमचरण "देवताओं को अपने स्वभाव से विपरीत द्वितीयार्थफल यानि कि जो फल वे सामान्यतया देते हैं उससे भिन्न दूसरा फल देने में महान श्रम क्यों होता है" इस मुद्दे का विवेचन कर रहे हैं। यानि शिव यद्यपि भोग देते हैं परन्तु द्वितीयार्थ फल अर्थात् मोक्ष देने में उन्हें महान श्रम क्यों होगा एवं विष्णु यद्यपि मोक्ष देते हैं, परन्तु द्वितीयार्थ फल अर्थात् भोग देने में उन्हें महान श्रम क्यों होगा- इसका कारण बता रहे हैं। इसमें उन्होंने मूलकारण "जीव स्वभावतः दुष्ट होते हैं"- यह बताया है। साथ ही साथ श्रीपुरुषोत्तमचरणों ने आगे मत्स्यपुराण एवं कूर्मपुराण के भी उद्धरण दिए हैं अतः व्याख्यान विस्तृत हो गया है। इसलिए अध्येताओं को मूलविषय का अनुसंधान रखते हुए आगे की पंक्तियाँ पढ़नी चाहिए, ताकि मूलविषय का अनुसन्धान छूट न जाय।

जीवाः शारीरात्मानः सलिङ्गाः । "एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत्षोडशविस्तृतम् । एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयते"

इति चतुर्थस्कन्धे नारदवाक्यात् । यद्यपि श्रुतौ केवला अपि जीवपदेनोच्यन्ते । तथापि, “त्रयः प्राजापत्या देवा मनुष्या असुराश्चे”ति श्रुतेः, “उत्पन्नास्त्रिविधा जीवा देवदानवमानवाः” इत्यादि पञ्चरात्रवाक्याच्च देवत्वादिवैशिष्ट्यं सलिङ्गानामेवेति तादृशा एवाऽत्र ग्राह्याः । तेषां च स्वभावतः लिङ्गवैशिष्ट्यतो यः साहजिको देवमनुष्यासुरत्वरूपो धर्मस्तस्माद्दुष्टाः अविद्याकामकर्मजवासनाविशेषदोषभाज इति तद्दाने पात्रत्वायाऽयोग्याः । तथा च योग्यतार्थं स्वभावपरावर्तनस्य कर्तव्यत्वान्महानित्यर्थः ।

जीव का अर्थ है- लिंगशरीर के सहित आत्मा; उसे जीव कहा जाता है। हमने ऐसा अर्थ इसलिए लिया है क्योंकि 'जीव' शब्द का यही अर्थ श्रीभागवत में “एवं पञ्चविधं लिंगं(श्री०भा-४/२९/७४)” इस श्लोक द्वारा किया गया है। यद्यपि श्रुति में कहीं-कहीं लिंगशरीर के बिना केवल आत्मा को भी जीव कह दिया गया है, तथापि, “त्रयः प्राजापत्या देवा(बृहदा-५/२/१)” इस श्रुति के अनुसार एवं “उत्पन्नास्त्रिविधा जीवा देवदानवमानवाः(सर्व-१९; ना०पं०स्मृ-१/८७,८८)” इस पञ्चरात्र के वाक्य में देव-दानव-मानव इत्यादि को केवल आत्मा न कहकर इन्हें लिंगशरीरसहित आत्मा बताते हुए 'जीव' पद द्वारा सम्बोधित किया गया है, अतः वही अर्थ यहाँ मूलश्लोक में भी ग्रहण करना चाहिए, यानि मूलश्लोक में 'जीव' शब्द का अर्थ केवल आत्मा नहीं अपितु लिंगशरीरसहित आत्मा है। आपश्री आज्ञा करते हैं- जीव स्वभावतः दुष्ट होते हैं, यानि, लिंगशरीर वाले जीव जिनमें उपर्युक्त पञ्चरात्र वाक्यानुसार देव-मनुष्य-असुर इत्यादि जो सहज धर्म होते हैं, उन देव-मनुष्य-असुर के धर्मों के कारण आपश्री ने जीव को स्वभावतः दुष्ट कहा है, इसका अर्थ यह हुआ कि जीव तो अविद्या, काम और कर्म से उत्पन्न होने वाली वासना वाले विशेषरूप से दोषभागी होते हैं, अतः ऐसे दुष्टजीवों को द्वितीयार्थ फल का दान करने में वे पात्र बनने में अयोग्य होते हैं। अब ऐसे दुष्टजीवों को योग्य बनाने के लिए विष्णुशिव को पहले तो उन जीवों के मूलस्वभाव को परिवर्तित करना पड़ता है और उनके मूलस्वभाव को परिवर्तित करने में उन्हें महान श्रम होता है, क्योंकि किसी के मूलस्वभाव को बदलना बड़ा कठिन होता है।

अयमाशयः । मत्स्यपुराणसमाप्तौ कल्पानुकीर्तनाध्याये ‘सङ्कीर्णाः सात्त्विकाश्चैव राजसास्तामसास्तथा’ इति चतुर्विधान् कल्पान् प्रदर्श्य ‘अग्नेः शिवस्य माहात्म्यं तामसेषु प्रकीर्त्यते । राजसेषु तु माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः । सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितृणां च निगद्यते । सात्त्विकेष्वथ कल्पेषु माहात्म्यमधिकं हरेः । तेष्वेव योगसंसिद्धा गमिष्यन्ति परां गतिम्’ इति चतुर्विधानां लक्षणोक्तिपूर्वकं सात्त्विकेष्वेव सावधारणं मोक्ष उच्यते । तथा कौर्मोऽपि सात्त्विककल्पान् प्रकृत्य ‘ध्यानं तपस्तथा ज्ञानं लब्ध्वा तेष्वेव योगिनः । आराध्य गिरिशं मां च यान्ति तत्परमं पदम्’ इति । पुराणानामपि तत्तत्कल्पानुसारित्वं मत्स्यपुराणे पुराणदानाध्याये उक्त्वा ‘सात्त्विकेष्वथ कल्पेष्वि’त्यादि पठितम् ।

यहाँ से श्रीपुरुषोत्तमचरण यह बता रहे हैं कि, द्वितीयार्थ फल देने में विष्णु को महान श्रम क्यों होता है। इसके पश्चात् वे ये बतायेंगे कि शिव को भी महान श्रम क्यों होता है। यह सब कहने का आशय यह है कि, मत्स्यपुराण की समाप्ति में कल्पानुकीर्तनाध्याय में “सङ्कीर्णाः सात्त्विकाश्चैव राजसास्तामसास्तथा(मत्स्यपुराण/कल्पानुकीर्तनाध्याय/२९०/१३)” इस वाक्य द्वारा चार प्रकार के कल्पों को दिखाकर “अग्नेः शिवस्य माहात्म्यं(मत्स्यपुराण/कल्पानुकीर्तनाध्याय/२९०/१४)” इस वाक्य द्वारा उन चारों कल्पों के लक्षण बताते हुए यह बताया गया है कि, सात्त्विककल्पों में ही मुक्ति प्राप्त होती है। इसी प्रकार कूर्मपुराण में भी “ध्यानं तपस्तथा ज्ञानं(कूर्मपुराण/उत्तरभाग/४३/५१)” इत्यादि वाक्यानुसार सात्त्विककल्प के ही प्रकरण में यह बात आयी है कि, योगियों को ध्यान, तप, ज्ञान आदि सभी प्राप्त होते हैं एवं विष्णु एवं शिव की आराधना करके योगी को परमपद प्राप्त होता है; इससे सिद्ध होता है कि, यह सभी कुछ सात्त्विककल्पों में ही प्राप्त होता है। साथ ही साथ पुराणों का भी तत्तत् कल्पों के अनुसार तामस-राजस-सात्त्विक या निर्गुण प्रकार से प्रकट होना मत्स्यपुराण के दानाध्याय में बताने के पश्चात् “सात्त्विकेष्वथ कल्पेषु(मत्स्यपुराण/कल्पानुकीर्तनाध्याय/२९०/१३)” इस वाक्य द्वारा कहा गया है।

तेन ज्ञायते यद्विष्णुमाहात्म्ययुक्तं पुराणं तत्सात्त्विकम् । तथैवाऽन्यत्तामसादिकम् । वामनपुराणे दशमाध्याये “देवानां परमो धर्मः

१. स्वभावतः त्रयः प्राजापत्या देवा मनुष्या असुराश्चेति श्रुतेः। उत्पन्नास्त्रिविधा जीवा देवदानवमानवा इत्यादिपञ्चरात्रवाक्याच्च यः साहजिको देवमनुष्येत्यादिः पाठः। २. देवानां परमो धर्मो विष्णुपूजारतिः स्मृता। दैत्यानां बाहुशालित्वं हरभक्तिरुदाहृतेति।

सदा यज्ञादिकाः क्रियाः । स्वाध्यायो वेदवेत्तृत्वं विष्णुपूजारतिः स्मृता । दैत्यानां बाहुशालित्वं मात्सर्यं युद्धसक्रिया । वेदनं नीतिशास्त्राणां हरभक्तिरुदाहृता^१ इति श्लोकद्वयेनोक्ताः पूर्वोक्ता जीवाश्च त्रिविधाः सात्त्विकादिरूपेण पर्यवस्यन्ति । एवं सति सात्त्विकपुराणोक्तविष्ण्वाराधनात्सात्त्विककल्पे मुक्तिः । तथा 'मां च गिरिशम्' इति वाक्याच्छिवाराधनादपीति सिद्ध्यति । इयमेव व्यवस्था तन्त्रेऽपि, न्यायसाम्यात् ।

इससे ज्ञात होता है कि, जो पुराण विष्णु का माहात्म्य बताते हैं, वे पुराण सात्त्विकपुराण हैं, और उसी प्रकार जो पुराण शिव का माहात्म्य बताते हैं, वे पुराण तामसपुराण हैं। इसके अतिरिक्त वामनपुराण के दशमाध्याय में "देवानां परमो धर्मः (वामनपुराण/10/15)" इन दो श्लोकों के अनुसार पूर्व में बताए गए जीव भी सात्त्विक-तामस-राजस यों तीन प्रकार के होते हैं, उनके स्वभाव एवं उनके धर्म भी भिन्न-भिन्न होते हैं- यह सिद्ध होता है। इसलिए सात्त्विकपुराणों में बतायी गयी विष्णु की आराधना करने के द्वारा सात्त्विककल्प में मुक्ति प्राप्त होती है और "मां च गिरिशम् (कूर्मपुराण/उत्तरभाग/43/51)" इस वाक्यानुसार शिव की आराधना करने से भी मुक्ति प्राप्त होती है। पाशुपत-पञ्चरात्र इत्यादि तन्त्रों में भी मुक्ति देने की व्यवस्था सात्त्विक-राजस-तामस के अनुसार ही है अर्थात् पञ्चरात्र का अनुगमन करके मुक्ति पाने वाले सात्त्विकभक्त कहें जायेंगे एवं पाशुपत का अनुगमन करके मुक्ति पाने वाले तामसभक्त कहे जायेंगे; पुराण हों या तन्त्र हो, दोनों ही स्थानों पर एक ही न्याय लागू पड़ता है।

तत्र सात्त्विकानां सत्त्वनिवृत्तौ गुणातीतत्वशैश्यान्मोक्ष इति तद्दाने विष्णोर्न श्रमः । भोगदाने तु दोषानुद्भवपूर्वकं शान्तस्वभावस्य परिवर्तनीयत्वान्महान् श्रमः । तामसानां तु गुणत्रयप्रयुक्तशान्तघोरविमूढत्वनिरासेन गुणातीतत्वसम्पादने शिवस्य महान् श्रमः । भोगदाने तु स्वभावपरिवर्तनस्याऽनपेक्षणात्र श्रमः । तस्मादेषा साधनापेक्षा नौदार्यस्य भञ्जिकेति साधनानामभावे योग्यताया अप्यभावे यद्दानं तेन च तस्य जीवस्योत्कर्षादिकमिति मूलरूपस्यैव धर्मो न त्ववतारधर्म इति न किञ्चिदनुपपन्नम् ।

अब सात्त्विकजीवों की तो सात्त्विकता निवृत्त होकर वे शीघ्र ही गुणातीत(निर्गुण)बन जाते हैं अतः सात्त्विकजीवों को मुक्ति देने में विष्णु को विशेष श्रम नहीं करना पड़ता। किन्तु यदि सात्त्विकजीवों को 'भोग' का दान करना है, तो पहले उनके दोषों को मिटाते हुए उनके मूल शान्तस्वभाव को परिवर्तित करके उन्हें भोगवादी स्वभाव वाला बनाने में विष्णु को महान श्रम करना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार शिव को यदि तामसजीवों को मुक्ति देनी है, तो सबसे पहले सात्त्विक-तामस-राजस इन तीनों गुणों से उत्पन्न होने वाले उनके क्रमशः शान्त-घोर-मोहित स्वभाव को दूर करके तत्पश्चात् उनमें गुणातीतता उत्पन्न करने में शिव को महान श्रम करना पड़ता है। परन्तु भोगदान करने में तो शिव को तामसजीवों का मूलस्वभाव परिवर्तित करने की कोई अपेक्षा नहीं रहती अतः शिव को कोई श्रम नहीं करना पड़ता। इसलिए उपर्युक्त विवेचनों से सिद्ध यह होता है कि, यदि ये देवता अपने स्वभाव से विपरीत जाकर विशिष्ट फलदान करने के लिए अपने भक्तों से साधनों की अपेक्षा रखते भी हैं, तो यह बात उनकी उदारता को भंग नहीं करती। हाँ, यह बात अवश्य जानने जैसी है कि, जहाँ जीव ने 'तदीयत्व' और 'तदाश्रय' इत्यादि कोई भी साधन न किया हो, उनमें किसी भी प्रकार की योग्यता न हो, तथापि यदि उन जीवों को इन्होंने फलदान किया है और उस फलदान से जीव का उत्कर्ष भी बढ़ा है, तो यह सामर्थ्य या ऐसा दयालु स्वभाव तो मूलस्वरूप पुरुषोत्तम का ही धर्म है, पुरुषोत्तम के अवतार का धर्म नहीं, यानि विष्णु और शिव का नहीं अतः मेरे कहे में कुछ भी अयुक्त नहीं है।

एवं साधकदोषवशेन तद्दाने तयोः श्रमबाहुल्यं साधयित्वा तद्दोषनिवृत्तये यत्साधकस्य आवश्यकं तत्रत्यं शास्त्रान्तरीयं वा साधनं तदाहुर्दोषाभावायेत्यादि । दोषस्य दोषाणां वा अभावाय^२ निवृत्त्यर्थं सर्वदा 'कालाविच्छेदेन श्रवणादि' तन्नवकं वा त्रिकं वा पञ्चकं वा यत्तत्रोक्तं शास्त्रान्तरोक्तं तत्तद्विषयकं तत्कार्यमिति शेषः । ततस्तस्मात्क्रियमाणाज्जातेन प्रेम्णा

१. श्लोकद्वयेनोक्तमिति । २. कल्पेऽपि । ३. शान्तस्वभावस्याऽपीति । ४. अभावाय, निवृत्तौ चतुर्थी, मशकेभ्यो धूप इतिवत्, निवृत्त्यर्थं, सर्वदेत्यादि । ५. कालानवच्छेदेनेति । ६. तन्नवकं त्रिकं पञ्चकं वा यत्तत्रोक्तमित्यादि । तन्नवकं वा सात्त्विकं वा पञ्चकं तत्तन्त्रोक्तमित्यादि । तत्रैकं वा त्रिकं वा पञ्चकं वा यत्तत्रोक्तं तत्कार्यमिति शेष इति । ७. तत्तत्कार्यमिति । ८. तेन जातेनेति ।

तच्छास्त्रीयपरविषयकेण स्नेहेन सर्वं कार्यं तदीयत्वतदाश्रयरूपं हि निश्चयेन सिद्ध्यति । तथाच निर्बन्धेनाऽविच्छेदेन श्रवणादिकरणात्साधकस्याऽपि श्रमबाहुल्यमित्यर्थः ।

इस प्रकार से साधक के अपने दोषों के कारण उनके अधिकार से बढ़कर उन्हें फलदान करने में विष्णुशिव को महान श्रम होता है- इस बात को सिद्ध करके अब आचार्यचरण उन जीवों के दोषों की निवृत्ति करने के लिए उनके लिए इन देवताओं के शास्त्रों में बताए गए साधन या अन्य शास्त्रों में बताए गए जो आवश्यक साधन करने होते हैं, उन साधनों को दोषाभावाय इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि- दोष या दोषों की निवृत्ति करने के लिए सर्वदा श्रवणादि करते रहने चाहिए। यानि श्रवणादि नौ प्रकारक भक्ति, अथवा तीन प्रकार की भक्ति(श्रवण-मनन-निदिध्यासन) अथवा तो पाँच प्रकार की भक्ति(पाशुपततन्त्र में बतायी गयी पाँच प्रकार की भक्ति), जिस प्रकार की भी भक्ति उनके शास्त्रों में बतायी हो या अन्य साधन करने बताए गए हों, वे सभी साधन इनके अनुयायियों को करने चाहिए। ततः यानि उक्तप्रकारक भक्ति करने के पश्चात् उसे उस शास्त्र में श्रेष्ठरूप से बताए गए देवता में प्रेम उत्पन्न होगा और देवता के प्रति हृदय में उत्पन्न हुए प्रेम द्वारा ही उसके सर्व कार्य यानि तदीयत्व-तदाश्रयत्व इत्यादि सभी कार्य निश्चितरूप से सिद्ध होते हैं। इस बात से यह ज्ञात होता है कि अपने स्वभाव से विपरीत फल देने में इन देवताओं को तो श्रम होता ही है, साथ ही साथ आग्रहपूर्वक बिना किसी व्यवधान के श्रवणादि साधन करने में साधकभक्त को भी बहुत श्रम करना पड़ता है।

एवं सामर्थ्यं साधनव्यवस्थां च बोधयित्वा तेन सिद्धमाहुर्मोक्ष इत्यादि ।

मोक्षस्तु सुलभो विष्णोर्भोगश्च शिवतस्तथा ॥१७॥

तुर्विशेषावधारणे । पूर्वोक्तोपपत्तिभिर्द्वितीयार्थं महाश्रमावधारणात् । मोक्षो विष्णोः सुलभः, शिवतो भोगश्च तथा सुलभ इत्यर्थः ॥१७॥

इस प्रकार से इन दोनों देवताओं में दोनों प्रकार के फल देने की सामर्थ्य है एवं इनसे ऐसा फल प्राप्त करने में क्या साधन करने होते हैं, इसकी भी व्यवस्था बता कर अब इसका फलितार्थ क्या हुआ- यह आपश्री मोक्ष इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

तु शब्द विशेष सिद्धान्त को समझाने के लिए प्रयुक्त हुआ है। यानि पूर्व में कहे समस्त प्रमाणों के द्वारा यह सिद्धान्त समझ में आया कि इन देवताओं को द्वितीयार्थ फल देने में बड़ा परिश्रम करना पड़ता है- अतः यह बात समझ लेने के पश्चात् जो इसका फलितार्थ है, वो ये समझना चाहिए कि मोक्ष पाना विष्णु से सुलभ है और भोग पाना शिव से सुलभ है ॥१७॥

समर्पणेनाऽऽत्मनो हि तदीयत्वं भवेद्भुवम् ।

अतदीयतया चाऽपि केवलश्चेत्समाश्रितः ॥१८॥

तदाश्रयतदीयत्वबुद्ध्यै किञ्चित्समाऽऽचरेत् ।

स्वधर्ममनुतिष्ठन् वै भारद्वागुण्यमन्यथा ॥१९॥

अतः परं तदीयपदस्य सम्बन्धितद्वितान्तत्वेन तत्सम्बन्धिमात्रे योगात्साधकमात्रस्य तेन पदेन तुल्योपस्थितौ श्रवणादेः पूजादिकर्मणश्च तुल्यत्वमेवेति कथं कस्यचिदेवाऽतिप्रियत्वमित्याशङ्कायां तस्य पर्यवसितं विशेषमाहुः समर्पण इत्यादि । हिः स्फुटार्थः । आत्मनः समर्पणे ध्रुवं तदीयत्वं भवेत् । एतदपि लोक एव स्फुटम् । मदीयानां मम च यथेष्टं विनियोगं प्रभुः करोत्विति बुद्धिर्ह्यात्मसमर्पणे कारणम् । तथा सति स्वसत्तालेशस्याऽप्यभावात्तन्निश्चितं भवति । तथाच साधनान्तरेण तदभावाच्छ्रवणादिकृतं तदीयत्वमात्मनिवेदित्वे पर्यवस्यतीति तस्यैवाऽतिप्रियत्वमिति तदर्थं श्रवणादिकमेव कार्यमित्यर्थः ।

यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, 'तदीय' शब्द का अर्थ सम्बन्ध को बताने वाला होता है। यानि किसी व्यक्ति का अन्य दूसरे व्यक्तिविशेष से सम्बन्ध हो अर्थात् वह उससे जुड़े तो उसे 'तदीय' कहते हैं। अब प्रश्न यह होता है कि, इन देवताओं के भक्त इनके शास्त्रों में बताए गए साधनों को करते हुए यदि इनसे जुड़ते हैं, तब तो सभी के सभी भक्त इनके 'तदीय' कहे जायेंगे ! साथ

१. तज्जातीयपरविषयकेणेति । २. तदाश्रयत्वरूपमिति । ३. समर्पण इत्यादीति च्छेदेन सप्तम्यन्ततया सर्वत्र प्रतीकग्रहोपलब्धावपि तादृशयोजनाया अदर्शनाल्लेखकदोषमनुमाय 'समर्पणेनेत्यादि' इत्येव पठितव्यमिति भाति । ४. अत्राऽप्युक्तया दिशा समर्पणेति पाठः प्रतिभाति ।

ही साथ श्रवणादि भक्ति करनी एवं पूजादि कर्म इत्यादि सभी साधन एक समान ही तो हैं, फिर इनमें से कोई एक भक्त ही कैसे और क्यों इनका अतिप्रिय बनता है, सभी के सभी क्यों नहीं ? तो आचार्यचरण तदीय शब्द से निकलने वाला एक विशेष अर्थ समर्पण इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। श्रीपुरुषोत्तमचरण इस शंका का परिहार आगे यह बताकर कर रहे हैं कि, जो आत्मसमर्पण करके तदीय बनते हैं, वही अतिप्रिय बनते हैं। जिन्होंने आत्मसमर्पण नहीं किया वे नहीं। हि शब्द द्वारा द्योतित होता है कि, यह बात तो स्पष्ट ही है कि, जो जीव आत्मसमर्पण करेगा, वह तो तदीय बनेगा ही। इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि, आत्मा का समर्पण करके जो तदीय बना है, वही वास्तव में तदीय बनता है, यानि तब ही उसमें निश्चितरूप से तदीयता आती है। यह बात भी लोक में देखी जाती है कि सम्बन्ध तो सभी से होता है, परन्तु आत्मीयता तो उन्हीं गिने-चुने लोगों से ही होती है जो हमारे प्रति पूर्णरूप से समर्पित होते हैं। निश्चितरूप से "मुझसे सम्बन्धित वस्तुओं का एवं मेरा जैसा चाहें वैसा विनियोग प्रभु करें"- इसी प्रकार की बुद्धि रखनी आत्मसमर्पण में कारणभूत होती है। जब भक्त में ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है, तब उसे किसी भी वस्तु में अपनी लेशमात्र भी सत्ता का अनुसंधान नहीं रहता और तब इस प्रकारक समर्पण करने के द्वारा उसका तदीय बनना निश्चित होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि, चूँकि समर्पण के अतिरिक्त अन्य किसी साधनों से 'तदीयता' नहीं आती अतः श्रवण आदि करने के द्वारा 'तदीय' बनने का अर्थ यह है कि श्रवणादि करने का मूललक्ष्य आत्मनिवेदन करना है और जो श्रवणादि से आरंभ करके इसके अंतर्गत आने वाली सभी अवस्थाओं से होता हुआ अंत में जाकर आत्मनिवेदन करता है, वही तदीय बनता है, जो श्रवण कीर्तन स्मरण इत्यादि अवस्थाओं से होता हुआ आत्मनिवेदन तक नहीं पहुँचा ऐसा जीव तदीय नहीं बनता- और आत्मनिवेदन करने से ही भक्त अतिप्रिय बनता है, इसलिए अतिप्रिय बनने के लिए भक्त को श्रवणकीर्तन इत्यादि ही करने चाहिए- यह अर्थ है।

नन्वेवं सति तदाश्रितस्य कथं फलसिद्धिः । तस्य स्वरक्षकत्वमात्रेण तदनुसन्धानात्तदीयत्वाभावेनाऽतिप्रियत्वाभावादित्याकाङ्क्षायां तदर्थं प्रणालीमाहुरतदीयेत्यादि । अतदीयतया उक्तरीतिकसमर्पणाभावेनाऽध्रुवत्वादतदीयतया केवलस्तदीयतारहितः समाश्रितः सम्यक्सर्वात्मना सर्वतो रक्षकत्वानुसन्धानवाँश्चेत्तदाश्रयतदीयत्वबुद्ध्यै उक्तरूपानुसन्धानोपयुक्ता या 'तदीयोऽहमिति बुद्धिस्तदर्थं किञ्चित्तदनुकूलं श्रवणादिकं समाचरेत् येन सा दृढा भवति । तत्रापि स्वधर्ममनुतिष्ठन् वर्णाश्रमधर्मं कुर्वन् । तथाचाऽऽश्रितस्यैवं प्रणाल्या तदीयत्वदाढ्यै तस्याऽप्यतिप्रियत्वं भवतीति ततोऽपि तथेत्यर्थः ।

यह व्यवस्था तो चलो तदीयभक्त के लिए हो गयी, किन्तु अब प्रश्न यह है कि, 'तदाश्रय' करने वाले भक्त को किस प्रकार फलसिद्धि होगी ? क्योंकि आश्रय करने वाला भक्त तो अपने देवता को केवल अपना रक्षक मान कर ही चल रहा होता है, इसका अर्थ यह हुआ कि वो अपने देवता को केवल अपने रक्षक के रूप में ही देख रहा होता है। अब यदि केवल रक्षक ही मान रहा है, तो उसमें तदीय बनने की योग्यता भी नहीं आ सकती और जब वह तदीय नहीं बना तो अतिप्रिय भी कैसे बन पायेगा ? यह आकांक्षा होने पर आचार्यचरण तदीय न होने पर भी अतिप्रिय बनने की प्रणाली अतदीयतया इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। अतदीयतया चाऽपि केवलश्चेत्समाश्रितः का तात्पर्य है- ऊपर कहे अनुसार समर्पण न किया होने के कारण यदि वह निश्चितरूप से अतदीय रह गया हो और केवल समाश्रितः हो, यानि भलीभाँति सभी प्रकार से देवताओं को अभी केवल अपना रक्षक ही मान कर उनका आश्रय करता हो, तो ऐसे भक्त को अपने मन में 'तदीयत्व' एवं 'तदाश्रय' होने का भाव जाग्रत करने के लिए, यानि "मैं उनका हूँ" इस प्रकार की बुद्धि जाग्रत करने के लिए श्रवणादि का आचरण करना चाहिए कि जिसके द्वारा उसकी बुद्धि उस प्रकार से दृढ बन सके। आपश्री आगे आज्ञा करते हैं- श्रवणादि भी करने हैं, तो अपने स्वधर्म का निर्वाह करते हुए करने होते हैं, यानि अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मों का पालन करते हुए करने होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि, उक्त प्रकार से आश्रितभक्त में इस प्रकार की प्रणाली द्वारा जब 'तदीयत्व' दृढ होगा, तो वह भी उनका अतिप्रिय बनेगा, इसलिए ऊपर कहे अनुसार केवल आश्रय करने वाला भक्त भी अतिप्रिय बन सकेगा जिसके द्वारा

फलसिद्धि हो सकेगी- यह अर्थ है।

ननु तदीयत्वार्थं श्रवणादिकमेवाऽस्तु । वर्णाश्रमधर्मस्य साधारणस्य कुत्रोपयोग इत्याकाङ्क्षायामाहुर्वै भारेत्यादि । वै निश्चयेन । अन्यथा भारद्वैगुण्यं स्वधर्मानाचरणेऽधर्मकृतः स्वभावकृतश्चेत्येवं द्विगुणो भारो दोषः स्यात्तथा सति तदुद्धर्तुः श्रमोऽतिमहान् भवेत्तथा सति पापस्य प्रतिबन्धकत्वात्फलेऽपि विलम्बः स्यादिति तदभावार्थं धर्मोपयोग इत्यर्थः ।

यहाँ एक शंका यह होती है कि, चलो तदीय बनने के लिए श्रवणादि तो करने चाहिए, परन्तु आचार्यचरण फिर उन्हें साधारण वर्णाश्रमधर्मों का पालन करने की भी बात क्यों कह रहे हैं ! तदीय बनने में वर्णाश्रमधर्म पालन करने का भला कहाँ उपयोग है ? यह आकांक्षा होने पर आपश्री इसका स्पष्टीकरण वै भारद्वैगुण्यमन्यथा इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। वै का अर्थ है- निश्चितरूप से। वै भारद्वैगुण्यमन्यथा का अर्थ है- यदि श्रवणादि के संग-संग स्वधर्म का आचरण नहीं करेंगे, तो निश्चितरूप से अधर्मकृत(स्वधर्म न करने पर अधर्म होगा) एवं स्वभावकृत(जीव का स्वभाव तो दुष्ट ही है इसलिए) यों दोगुना भार आ पड़ेगा यानि दोगुना दोष गलेपतित होगा; ऐसी परिस्थिति में उस दोगुने दोषभागी भक्त का उद्धार करने में देवताओं को और भी अधिक श्रम करना पड़ेगा, और तब उसके पाप प्रतिबन्धक बनकर उसके मार्ग में रुकावट डालेंगे और उसे फलप्राप्ति में विलम्ब होगा। यह सारी गड़बड़ी न हो एतदर्थ वर्णाश्रमधर्मों का उपयोग है ताकि उस पर और अधिक दोष गलेपतित न हो जाय।

तेन पाशुपतपञ्चरात्रयोर्यथातथाज्ञानवतामपि तदुक्तसाधनेन यथायथं भोगमोक्षयोः सुलभत्वं मोक्षभोगयोस्तु दुर्लभत्वमिति शैवतन्त्रं परम्परया मोक्षाया वैष्णवं साक्षान्मोक्षायेति फलतौल्येऽपि साधनतस्तारतम्यमिति सिद्धम् । द्वितीयस्कन्धे “एतावान्साङ्ख्ययोगाभ्यामि”त्यस्य सुबोधिण्यामेतदेव निरूपितम् । पञ्च सिद्धान्ताः स्वतन्त्रतया विहिताः । तत्र श्रुतिवैष्णवौ समप्रधानत्वेनोक्तौ । पशुपतिमतस्य कल्पभेदेन तामसपरत्वेनोत्कर्षजननद्वारा परम्परया यथायथमुपयोगः क्रममुक्तिहेतुत्वेन वेति । साङ्ख्ययोगयोः स्वतन्त्रतया ब्रह्ममीमांसायां निन्दितत्वात्स्मरणशेषत्वं धर्मशास्त्रस्य चेत्यपि तत्रैव प्रतिपादितम् ।

इससे यह बात सिद्ध हुई कि पाशुपतशास्त्र और पञ्चरात्र का यथावत् ज्ञान रखने वालों को भी इन शास्त्रों में बताए साधन करने के द्वारा जो जिस शास्त्र के अनुसार चल रहा है उसे, पाशुपतशास्त्र द्वारा भोग सुलभ होता है और मोक्ष दुर्लभ होता है; और इसी ढंग से पञ्चरात्र द्वारा मोक्ष सुलभ होता है और भोग दुर्लभ होता है। यानि शैवतन्त्र के अनुसार चलेंगे तो परम्परा से मोक्ष मिलेगा और वैष्णवतन्त्र के अनुसार तो साक्षात् रूप से मोक्ष प्राप्त हो जाता है(यहाँ परम्परा से फलप्राप्त होने का अर्थ यह है कि फलप्राप्ति सीधे-सीधे न होकर पहले तो जीव का स्वभाव परिवर्तन करना पड़ा और तत्पश्चात् फलप्राप्ति हुई। अर्थात् यों तो शिव द्वारा भोग प्राप्त होता है परन्तु शिव के पाशुपतशास्त्र का अनुसरण करने वालों को यदि भोग के बदले मोक्ष की कामना हो तो शैवों का तामसस्वभाव परिवर्तित करके उन्हें सात्त्विकस्वभाव वाला बनाने की अपेक्षा रहती है और स्वभावपरिवर्तित होने के पश्चात् उन्हें मोक्ष प्राप्त होता है; इसे कहेंगे परम्परा से मोक्ष मिलना; क्योंकि जो सात्त्विकभक्त हैं और उन्हें यदि मोक्ष ही चाहिए तो स्वभावपरिवर्तन की कोई अपेक्षा ही नहीं है और उन्हें पञ्चरात्र का अनुगमन करने से सीधे-सीधे ही मोक्ष मिल जायेगा। यही प्रणाली सात्त्विकभक्तों के लिए भी समझ लेनी चाहिए जिन्हें मोक्ष के बदले भोग प्राप्त करने की कामना हो। ऐसे सात्त्विकभक्तों को यदि भोग का दान करना है, तो सबसे पहले उनका सात्त्विकस्वभाव परिवर्तित करके उन्हें तामसस्वभाव वाला बनाने की अपेक्षा रहती है और ऐसों को भोगप्राप्ति सीधे-सीधे न होकर परम्परा से होगी- यह अर्थ है), इसलिए भले ही दोनों तन्त्रों में समान फल ही प्राप्त होता है, तथापि साधनों में अंतर होता है, यानि शैवों को यदि शैवतन्त्र से मोक्ष प्राप्त करना है, तो 'तदाश्रय' और 'तदीयत्व' ये दो अतिरिक्त साधन करने पड़ेंगे जबकि वैष्णवों को तो पञ्चरात्र के साधन द्वारा उक्त दो साधन किए बिना मोक्ष मिल जायेगा। ठीक इसी प्रकार यदि वैष्णवों को पञ्चरात्र से भोग प्राप्त करना है, तो 'तदाश्रय' और 'तदीयत्व' ये दो अतिरिक्त साधन करने पड़ेंगे जबकि शैवों को तो शैवतन्त्र में बताए साधनों को करने के द्वारा उक्त दो साधन किए बिना ही भोग मिल जायेगा- यह साधनों में अंतर आने का अर्थ है। द्वितीयस्कन्ध के "एतावान्साङ्ख्ययोगाभ्याम्(श्री०भा-२/१/६)" इस वाक्य की सुबोधिनी में आचार्यचरणों ने भगवत्प्राप्ति करने के लिए पाँच शास्त्रों(वैदिक,सांख्य,योग,पाशुपत,वैष्णव)के सिद्धान्त कहे हैं,

बताए हैं। इसमें आपश्री ने वैदिकमार्ग एवं वैष्णवमार्ग को समानरूप से प्रधान बताया है। पशुपतिमत की उपयोगिता को कल्पभेद की व्यवस्था के अनुसार बताया है, यानि कि तामसकल्प में पाशुपतमत के अनुयायी प्रकट होते हैं एवं पाशुपतमत के द्वारा उनका या तो परम्परा से उद्धार होता है या तो वे क्रममुक्ति प्राप्त करते हैं, साक्षात् नहीं। सांख्य-योग के लिए यह बताया है कि, इनकी तो ब्रह्ममीमांसा में स्वतन्त्ररूप/स्पष्टरूप से निन्दा की जा चुकी है अतः ये तो बस नाम मात्र के लिए रह गए हैं। और धर्मशास्त्र भी अब नाम मात्र के लिए रह गए हैं।

एवञ्चाऽत्राऽयं निष्कर्षः । लौकिकेषु मोक्षशास्त्रेषु वैष्णवतन्त्रमुत्कृष्टम् । तदपि “योगास्त्रयो मया प्रोक्ता” इत्युक्तयोगत्रयमध्ये कर्मयोगरूपम् । एकादशे सप्तविंशे “क्रियायोगं समाचक्ष्व भवदाराधनं प्रभो” इति प्रश्ने “वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः । त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेदि”ति कथनात् । योगेश्वरवाक्येऽपि “य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः । विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवमि”ति कथनात् । तन्त्रोक्ता भक्तिस्तु तस्यैवाऽङ्गभूता । अत एव “तया मुक्तिर्न चाऽन्यथे”त्यनेन मुक्तिरेव तत्फलत्वेनोक्ता । “न चाऽन्यथे”त्यनेन केवलकर्मयोगात्र मुक्तिरित्यपि सूचितम् । तेन तान्त्रिकमात्मसमर्पणादिकमपि तदुक्तभोगमोक्षपर्यवसाय्येव न तु पुरुषोत्तमसम्बन्धि सिद्ध्यति ।

इन सभी से निष्कर्ष यह निकलता है कि, लौकिकमोक्षशास्त्रों में वैष्णवतन्त्र(वैष्णवमार्ग)उत्कृष्ट है। किन्तु वैष्णवतन्त्र भी “योगास्त्रयो मया प्रोक्ताः(श्री०भा-११/२०/६)” इत्यादि में कहे तीन प्रकार के योगों के अंतर्गत कर्मयोगरूप है(कर्मयोग में कर्म के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति की जाती है। श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोग को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। कर्मयोग का प्रतिपादन गीता में विस्तार से हुआ है। भारतीयदर्शन में कर्म को बंधन का कारण माना गया है। किंतु कर्मयोग में कर्म के उस स्वरूप का निरूपण किया गया है जो बंधन का कारण नहीं होता। योग का अर्थ है समत्व की प्राप्ति(समत्वं योग उच्यते)। सिद्धि और असिद्धि, सफलता और विफलता में समभाव रखना समत्व कहलाता है। योग का एक अन्य अर्थ भी है। वह है कर्मों का कुशलता से संपादन करना(योगः कर्मसु कौशलम्)। इसका अर्थ है, इस प्रकार कर्म करना कि वह बंधन न उत्पन्न कर सके। अब प्रश्न यह है कि कौन से कर्म बंधन उत्पन्न करते हैं और कौन से नहीं? गीता के अनुसार जो कर्म निष्कामभाव से ईश्वर के लिए जाते हैं वे बंधन नहीं उत्पन्न करते। वे मोक्षरूप परमपद की प्राप्ति में सहायक होते हैं। इस प्रकार कर्मफल तथा आसक्ति से रहित होकर ईश्वर के लिए कर्म करना वास्तविक रूप से कर्मयोग है और इसका अनुसरण करने से मनुष्य को अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। ये कर्मयोग की सामान्य परिभाषा है, किन्तु ध्यातव्य है कि, ये एतन्मार्गीय सिद्धान्त नहीं है। कर्मयोगरूप इसलिए क्योंकि उपर्युक्त एकादशस्कन्ध के सत्ताइसवें अध्याय में उद्धवजी ने जब कर्मयोग की पद्धति द्वारा पूजा-अर्चना को समझने के लिए “क्रियायोगं समाचक्ष्व(श्री०भा-११/२७/१)” यह प्रश्न किया, तब भगवान ने उन्हें “मेरी पूजा की तीन विधियाँ हैं- वैदिक, तान्त्रिक और मिश्रित(श्री०भा-११/२७/७)” यों उत्तर दिया। योगेश्वरवाक्यों में भी वैदिक-तान्त्रिक दोनों पद्धतियों से कर्म द्वारा भगवान की आराधना करने की बात “य आशु हृदयग्रन्थिं(श्री०भा-११/३/४७)” इस वाक्य द्वारा कही गयी है। उक्त तन्त्र में कही गयी भक्ति तो कर्मयोग की ही अंगभूता है। इसी कारण नारदपञ्चरात्रस्मृति में “माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ स्नेह ही भक्ति है और उसी के द्वारा मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं” इस वाक्य द्वारा भक्ति से प्राप्त होने वाला फल केवल ‘मुक्ति’ ही बताया गया है अर्थात् हमारे मार्ग में जो भक्ति का स्वरूप बताया गया है और जो भक्ति को स्वतन्त्रपुरुषार्थरूप कहा गया है, उस प्रकार से इन तन्त्रों में नहीं बताया गया है। अतः हमें वो तन्त्रोक्त भक्ति स्वीकार्य नहीं है- यह अर्थ है। और इस वाक्य में “न चान्यथा” इन शब्दों के द्वारा यह भी सूचित होता है कि केवल कर्मयोग का ही अनुकरण करें, तो भी मुक्ति प्राप्त नहीं होती, उसमें भी भक्ति की अपेक्षा रहती है। उपर्युक्त सभी बातों से यह सिद्ध होता है कि, इन तन्त्रों में(वैष्णव-शैव तन्त्रों में)बताया गया आत्मसमर्पण करना इत्यादि साधन भी इन तन्त्रों में बताए भोग-मोक्ष आदि फल प्राप्त करने तक ही उपयोगी बनते हैं, इनसे बढ़कर वह आत्मसमर्पण पुरुषोत्तमसम्बन्धी आत्मसमर्पण नहीं है।

भक्तियोगस्तु ततो भिन्न एव । अत एव “भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ । पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परमि”त्युपक्रम्य ‘श्रद्धाऽमृतकथायां मे’ इत्यादिना कारणकथनावसरे “वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षे”ति कथनात्

क्रियायोगाध्याये च “मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति । भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत् मामि”ति कथनात् भक्तियोगस्तस्य फलभूतः । भगवांश्च “पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यये”ति गीतावाक्यादनन्यभक्तिलभ्यः । भक्तेश्च कारणं पूर्वमुक्तमेव । “पुनश्चे”ति वाक्ये परमिति विशेषणात् । एतेषाश्च परत्वमात्मनिवेदनान्तरत्व एव । “एवं धर्मेर्मनुष्याणामुद्धवाऽऽत्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्याऽवशिष्यते” इत्युपसंहारे तस्याऽधिकारिविशेषणत्वेन कथनात् ।

किन्तु एतन्मार्गीयभक्तियोग तो इन तन्त्रों में बतायी गयी भक्ति से नितांत भिन्न ही है। इसके आगे श्रीपुरुषोत्तमचरण विभिन्न भागवतश्लोकों के आधार पर यह सिद्ध करना चाह रहे हैं कि, इस ग्रन्थ में बताए गए तदीयता, तदाश्रय, समर्पण इत्यादि एतन्मार्गीय नहीं है और एतन्मार्ग में इनका स्वरूप अलग है। इसी कारण “भक्तियोग के विषय में तो मैं तुम्हें बता ही चुका हूँ, किन्तु अब मैं तुम्हें मेरी भक्ति प्राप्त होने का परम/श्रेष्ठ कारण बताता हूँ(श्री०भा-11/19/19)” इस वाक्य से आरंभ करके “श्रद्धाऽमृतकथायां मे(श्री०भा-11/19/20)” इत्यादि वाक्यों द्वारा भगवान ने उद्धवजी को परमभक्ति प्राप्त करने का कारण/साधन बताने के अंतर्गत “वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा(श्री०भा-11/27/1)” इस वाक्य के अनुसार एवं क्रियायोग/कर्मयोग के विषय में बताने वाले अध्याय में भी “जो निष्कामभाव से मेरी पूजा करता है, उसे मेरा भक्तियोग प्राप्त हो जाता है(श्री०भा-11/27/53)” इस कथन द्वारा भी भगवान ने भक्तियोग को तो कर्मयोग का फलभूत बताया है, यानि कर्मों का फल भी भक्ति ही है, यह बताया है। और भगवान भी तो “पुरुषः स परः(भ०गी-8/22)” इस गीतावाक्यानुसार अनन्यभक्ति द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं। चूँकि भगवान ने उद्धवजी को “भक्तियोगः पुरैवोक्तः(श्री०भा-11/19/19)” इस वाक्य में साधारणभक्ति के विषय में न कहकर “अब मैं तुम्हें फिर से मेरी भक्ति प्राप्त होने का परम यानि श्रेष्ठ कारण/साधन कहूँगा” इस कथन द्वारा साधन में ‘परम’ विशेषण लगा कर कहा है, अतः ज्ञात होता है कि, भगवान साधारणभक्ति प्राप्त करने का कारण/साधन तो इसके पहले के वाक्यों में ही कह चुके हैं; इससे पता चलता है कि, यदि भगवान पुनः भक्ति के विषय में कोई गोपनीय बात बता रहे हैं तो उनकी भक्ति प्राप्त करने का परम कारण/साधन ही बता रहे हैं। उपर्युक्त एकादशस्कन्ध में बताए भगवद्धर्मों का अनुसरण करने वाले भक्तों की भक्ति परमभक्ति तो आत्मनिवेदन कर लेने के पश्चात् ही बनती है। क्योंकि इन्हीं वाक्यों के बाद ही(यानि भक्तियोगः पुरैवोक्तः- श्री०भा-11/19/19 के बाद ही)भगवान ने भागवद्धर्मों का उपसंहार करते समय “एवं धर्मेर्मनुष्याणां(श्री०भा-11/19/24)” इस वाक्य द्वारा आत्मनिवेदन करने वालों को ही परमभक्ति प्राप्त करने का अधिकारी बताया है।

तथा तदुपयोगी शरणागत्यात्मा आश्रयोऽपि भिन्न एव । “अथैतत्परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन । सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत्सखे”त्युपक्रम्य “न रोधयति मां योग” इत्यादिना स्मार्तश्रौतयावन्निषेधपूर्वकं सत्सङ्गस्य केवलभावस्य च यथायथं स्वावरोधकत्वं स्वप्राप्तिसाधनत्वं चोक्त्वा ब्रजभक्तनिदर्शनमप्युक्त्वा “तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्ये”ति द्वाभ्यां सर्वात्मना शरणगमनस्याऽकुतोभयप्राप्तिसाधनत्वकथनात् । अनेन सन्दर्भेण साधनफलयोरुत्कर्षोऽपि सिद्धः । श्रुतेरप्याशयोऽयमेव । “नाऽयमात्मा प्रवचनेने”ति “भगवान् ब्रह्म कात्स्न्येने”ति श्रुतिस्मृतिभ्यां तथाऽवसायात् ।

और उक्त परमभक्ति प्राप्त होने में उपयोगी शरणागतिरूप आश्रय भी वैष्णवतन्त्रों में बताए गए आश्रय से भिन्न ही है। क्योंकि भगवान ने “अथैतत्परमं गुह्यं(श्री०भा-11/11/49)” इस वाक्य से उपक्रमित करके “न रोधयति मां योगः(श्री०भा-11/11/49)” इत्यादि वाक्यों द्वारा भगवान को प्राप्त करने के स्मार्त-श्रौत आदि जितने भी उपाय हैं, उन सभी का निषेध करते हुए सत्संग एवं केवल भाव से अपने आप को बाँधा जा सकने वाला साधन बताया है; यह कहकर फिर भगवान ने ब्रजभक्तों की भक्ति को भी दर्शाते हुए “इसलिए हे उद्धव ! तुम श्रुति-स्मृति, विधि-निषेध, प्रवृत्ति-निवृत्ति और सुनने योग्य और सुने विषय का भी परित्याग करके सर्वत्र मेरी ही भावना करते हुए केवल मेरी ही संपूर्णरूप से शरण ग्रहण करो। क्योंकि मेरी शरण में आ जाने से तुम सर्वथा निर्भय हो जाओगे(श्री०भा-11/12/14,15)” इन दो श्लोकों द्वारा अपने शरणागत हुए भक्तों को सभी प्रकार से निर्भयता प्राप्त हो जानी भी कही है। इस सन्दर्भ द्वारा एकादशस्कन्ध में बतायी परमभक्ति के साधन और उससे प्राप्त होने वाला फल दोनों उत्कृष्ट सिद्ध होते हैं। श्रुति का भी आशय यही है क्योंकि

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः(कठो-1/2/23,मुण्डको-3/2/3)" एवं "भगवान् ब्रह्म(श्री0भा-2/2/34)" इन श्रुतिस्मृति के वाक्यों में भी यही बात बतायी गयी है।

तदिदं सुबोधिनीनिबन्धभाष्येषु निपुणतरमुपपादितमत्र मङ्गलवाक्ये सूचितम् ।

ऊपर कहे परमभक्ति के कारण/उपाय का संपूर्ण विवेचन आचार्यचरणों ने अपने सुबोधिनी, निबन्ध, भाष्य आदि ग्रन्थों में बड़ी निपुणता से किया है, उसी विवेचन को आपश्री ने इस ग्रन्थ के मंगलवाक्य(प्रथमश्लोक)में सूचित किया है(इसका तात्पर्य यह है कि श्रीपुरुषोत्तमचरणों ने इस ग्रन्थ के प्रथमश्लोक की टीका में यह बात समझायी थी कि, आचार्यचरणों ने प्रथमश्लोक में 'हरि' और 'सदानन्द' इन दो पदों द्वारा यह बताया है कि पुष्टिपुरुषोत्तम का भजन करना एतन्मार्ग में स्वतःपुरुषार्थरूप है और पुष्टिपुरुषोत्तम फल के रूप में अपना परमानन्द अपने भक्तों को देते हैं। साथ ही साथ श्रीपुरुषोत्तमचरणों ने यह भी कहा था कि आचार्यचरणों ने 'नत्वा' पद का प्रयोग करके यह भी बताया है कि ऐसे सदानन्द-हरि को प्राप्त करने में केवल दीनता ही साधन होती है। श्रीपुरुषोत्तमचरणों का कहना यह है कि, आचार्यचरणों ने एतन्मार्गीय परमभक्ति प्राप्त करने का जो उपाय अपने सुबोधिनी, निबन्ध, भाष्य आदि ग्रन्थों में विस्तार से बताया है, उसी बात का संकेत आपश्री ने इस ग्रन्थ के प्रथमश्लोक में भी 'नत्वा हरिं सदानन्दं' इन पदों से किया है)।

वेदे पूर्वकाण्ड उत्तरकाण्डे च त्रिवर्गो य उक्तस्तस्य तात्पर्यमेकादशे एकविंशाध्याये “फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम् । श्रेयोविवक्षया प्रोक्ता यथा भैषज्यरोचनम् । उत्पत्यैव हि कामेषु प्राणेषु स्वजनेषु च । आसक्तमनसो मर्त्या आत्मनोऽनर्थहेतुषु । न तानविदुषः स्वार्थं भ्राम्यतो वृजिनाध्वनि । कथं युञ्ज्यात्पुनस्तेषु तांस्तमो विशतो बुधः । एवं व्यवसितं केचिदविज्ञाय कुबुद्धयः । फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि । कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः । अग्निमुग्धा धूमतान्ताः स्वं लोकं न विदन्ति ते” इत्यन्तेन पश्चाग्न्युपासनान्तस्य साधनजातस्य यत्त्रिवर्गरूपं फलं तत्पुष्परूपं रोचनार्थं इत्युक्तम् ।

और, जहाँ तक वेद के पूर्वकाण्ड एवं उत्तरकाण्ड में त्रिवर्गफल की प्राप्ति होनी बतायी गयी है, तो उसका तात्पर्य तो एकादशस्कन्ध के निम्नलिखित वाक्यों से ही समझ में आ जाता है कि, ये पुरुषार्थ साक्षात् पुरुषोत्तम की प्राप्ति नहीं करा सकते।

[[हे उद्धवजी ! यह स्वर्गादिरूप फल का वर्णन करने वाली श्रुतियाँ मनुष्य के लिए उन-उन लोकों को परम पुरुषार्थ नहीं बतलातीं, परन्तु, बहिर्मुख पुरुषों के लिए अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा परम कल्याणमय मोक्ष की विवक्षा से ही कर्मों में रुचि उत्पन्न करने के लिए उस प्रकार से वर्णन करती हैं, जिस प्रकार से बच्चे को औषधि खिलाने के लिए रोचक वाक्य कहे जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि संसार के विषयभोगों में, प्राणों में और सगे-सम्बन्धियों में सभी मनुष्य जन्म से ही आसक्त हैं और उन वस्तुओं की आसक्ति उनकी आत्मोन्नति में बाधक एवं अनर्थ का कारण है। वे अपने परम पुरुषार्थ को नहीं जानते, इसलिए स्वर्गादि का जो वर्णन मिलता है वह ज्यों का त्यों सत्य है- ऐसा विश्वास करके वे देवादि योनियों में भटकते रहते हैं और वृक्ष आदि योनियों के घोर अन्धकार में आ पड़ते हैं। ऐसी अवस्था में कोई भी विद्वान् अथवा वेद फिर से उन्हें उन्हीं विषयों में क्यों प्रवृत्त करेगा? दुर्बुद्धिलोग(कर्मवादी)वेदों का यह अभिप्राय न समझकर कर्मासक्तिवश रंगबिरंगे पुष्पों के समान स्वर्गादि लोकों का वर्णन देखते हैं और उन्हीं को परमफल मान कर भटक जाते हैं। परन्तु वेदवेत्ता लोग श्रुतियों का ऐसा तात्पर्य नहीं बतलाते। विषयवासनाओं में फँसे दीन-हीन, लोभी पुरुष रंगबिरंगे पुष्पों के समान स्वर्गादि लोकों को ही सबकुछ समझ बैठते हैं, अग्नि के द्वारा सिद्ध होने वाले यज्ञ-यागादि कर्मों में ही मुग्ध हो जाते हैं। उन्हें अन्त में केवल देवलोक, पितृलोक आदि की ही प्राप्ति होती है। दूसरी ओर भटक जाने के कारण उन्हें अपने वास्तविक निजधाम का पता नहीं चलता(श्री0भा-11/21/23-27)] इत्यादि वाक्यों द्वारा पंचाग्नि-उपासना तक के साधनों से उत्पन्न होने वाला जो त्रिवर्गरूपी धर्म-अर्थ-काम फल बताया गया है, उसे रंगबिरंगे पुष्पों की भाँति केवल आकर्षित कराने के लिए बताया गया है, अर्थात् वेदों का इन फलों के प्रति कोई तात्पर्य नहीं है, ये तो मात्र लुभाने के लिए हैं- यह अर्थ है।

मोक्षो य आत्मलाभात्मा उक्तस्तत्राऽप्यात्मशब्दो भगवत्पर एव । अभेदवादस्वारस्यात् । तल्लाभसाधनं चाऽऽपाततः श्रवणादित्रयम् । वस्तुतस्तु वरणमेव, “यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः” इति श्रुतेः । तेन य आद्ये प्रवृत्तस्तस्य दुःखाभाव एव । यः

पुनस्तत्र साधनाधीनमिति ज्ञात्वा यतते तस्य साधनकौण्ठ्ये वरणश्रुतिर्वरणस्य दीनत्वमेव साधनं सूचयतीति भक्तावेव पर्यवस्यतीति 'वेदादाद्या यतः स्थिता' इत्यनेन सूचितम् । शेषनिर्णयस्तु स्फुटतयाऽत्र प्रतिपादित एव ।

साथ ही साथ वेदों में जहाँ मोक्ष का अर्थ 'आत्मलाभ' शब्द से कहा गया है, वहाँ 'आत्म' शब्द का अर्थ 'भगवान्' ही हैं, यानि इसका तात्पर्य यह है कि, वेद में 'आत्मलाभ' का अर्थ ज्ञानमार्गीय ढंग से अपनी आत्मा का वास्तविक स्वरूप जान लेना नहीं है, अपितु भगवान् को प्राप्त कर लेना ही है, क्योंकि वेद को भी अभेदवाद में ही अभिरुचि है, अभेदवाद का तात्पर्य यह कि वस्तुतः ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं है और सभी कुछ ब्रह्म ही है। वेद का तात्पर्य भी इसी में है और वेद केवल ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं, ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी का नहीं। अतः वेद ने यदि मोक्ष का नाम 'आत्मलाभ' होना कहा है तो वहाँ 'आत्म' शब्द का अर्थ ब्रह्म ही हैं क्योंकि वेद ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य किसी में मोक्ष होना नहीं बता सकते। और, यद्यपि वेद में 'आत्मलाभ' यानि भगवत्प्राप्ति के साधन कहने के तौर पर आपाततः श्रवणकीर्तनस्मरण ये तीन कह दिए गए हैं, परन्तु भगवत्प्राप्ति का वास्तविक साधन तो भगवान् द्वारा जीव का वरण कर लिया जाना ही है, जैसा कि "यमेवैष वृणते तेन(कठो-1/2/23)" इस श्रुति में बताया गया है। इस कारण जो जीव पहले वाले यानि लौकिकमोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त होता है, उसे तो केवल दुःख मिट जाने का ही फल प्राप्त होगा। परन्तु जो जीव "यह मोक्ष साधनों से प्राप्त होने वाला नहीं है" ऐसा जानकर मोक्षप्राप्ति का प्रयत्न करता है, तब उसके पास कोई भी साधन नहीं बचते यानि वो समस्त साधन करने छोड़ देता है और तब उक्त वरणश्रुति भगवान् द्वारा वरण किए जाने में दीनता को ही साधन बताती है, इसलिए वेद का भी मूलतात्पर्य तो भक्ति में ही घटित होता है- यह बात आचार्यचरणों ने ग्रन्थ के आरंभ में पहले से ही 'वेदादाद्या यतः स्थिताः' इस पंक्ति द्वारा सूचित कर दी थी, (इससे यह जानना चाहिए कि श्रीपुरुषोत्तमचरणों के अनुसार वेद में कहे अलौकिकपुरुषार्थों का अर्थ पुष्टिभक्तिमार्गीयपुरुषार्थ ही हैं)। इसके अतिरिक्त शेष पदार्थों का निर्णय तो आचार्यचरणों ने स्पष्टतया प्रतिपादित कर ही दिया है।

तदिदं सर्वं हृदिकृत्योपसंहरन्ति, इतीत्यादि ।

इत्येवं कथितं सर्वं नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः ॥१९^{१/२}॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितो बालबोधः सम्पूर्णः ।

इतिः समाप्तौ । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण कथितं यत् तत्सर्वं स्वस्य परेषां च सिद्धान्तसङ्ग्रहरूपं निष्कृष्टं न तु प्रतीकरूपम् । एतज्ज्ञाने पुनः पुमर्थदिविषयको भ्रमोऽन्यथाज्ञानं न भवतीत्यर्थः ॥१८॥१९॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जकृपाश्रयात् ।

बालबोधस्य विवृतिं चकृवान्पुरुषोत्तमः ॥१॥

यदत्र सदसद्वाऽपि जीवबुद्ध्या मयोदितम् ।

तत् क्षमन्तां बालबोधे प्रवृत्ताः प्रभवो मम ॥२॥

इति श्रीमदाचार्यचरणशरणस्य श्रीपीताम्बरसूनोः पुरुषोत्तमस्य कृतिर्बालबोधविवृतिः समाप्ता ।

तो, उपर्युक्त समस्त बातों को हृदय में धारण करके आचार्यचरण अब अग्रिमश्लोक में इति इत्यादि शब्दों द्वारा इस ग्रन्थ का उपसंहार कर रहे हैं।

इति का अर्थ है- अब यहाँ ग्रन्थ समाप्त होता है। पंक्ति में आपश्री आज्ञा करते हैं- पूर्व में कहे प्रकार से मैंने जो कुछ कहा, वह अपने एवं अन्यो के सिद्धान्तसंग्रह का केवल संकेत ही नहीं किया है अपितु नापतौल कर कहा है। इनका ज्ञान हो जाने के पश्चात् फिर कभी किसी को पुरुषार्थविषयक भ्रम नहीं होगा- यह अर्थ है ॥१८॥१९॥

श्रीवल्लभाचार्यचरणकमलों के आश्रयबल से

पुरुषोत्तम ने बालबोध की विवृति की ॥१॥

इस विवृति में जीवबुद्धि से मैंने सद-असद् जो कह दिया हो उसे,

बालबोध की रचना करने में प्रवृत्त मेरे प्रभु मुझे भी एक बालक ही समझ कर क्षमा करें ॥२॥

यह श्रीमदाचार्यचरणों के शरणागत श्रीपीताम्बरपुत्र पुरुषोत्तम की कृति बालबोधविवृति समाप्त हुई। ॥११११॥

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।
श्रीमद्भगवद्गवदनावतारश्रीमद्ब्रह्माचार्यचरणप्रणीतः ।

बालबोध : ।

श्रीद्वारकेश्वरचरणविरचिता बालबोधटीका ।

यत्पादमूलमुपसृत्य विशन्ति शश्वदृन्दावनदुमलताभुजपूजिताङ्घ्रिम्
सोऽयं समस्तजगतामभिवन्दनीयपादाम्बुजः सकरुणः प्रियमातनोतु ॥१॥

इह खलु लोके श्रुतिस्मृतिवात्स्यायनपुराणपञ्चरात्राद्युक्तधर्मपरिकरबोधकवाक्यनिःप्रतिपाद्यानां धर्मार्थकाममोक्षाणां विद्यमानत्वेनाभिधानभ्रमेण जीवसम्बन्धीयेष्वेवाल्पकत्वाद्भक्तिमार्गीयैकयोग्यास्तेषु यतिष्यन्त इति तेषां विवेचनं शास्त्ररूपेण वदन्तो मङ्गलमाचरन्ति नत्वेति ।

जिन चरणकमलों का आश्रय लेने से वृन्दावन के वृक्षों की लतारूपी भुजाओं से पूजित भगवच्चरणकमलों की प्राप्ति होती है, ऐसे समस्त जगत् द्वारा अभिवन्दनीय करुणावान आचार्यचरणकमल मेरा प्रिय करें ॥१॥

इस लोक में श्रुति-स्मृति, वात्स्यायन-पुराण-पञ्चरात्र आदि शास्त्रों में धर्म को परिकर/अंग सहित बताने वाले वाक्यों द्वारा प्रतिपादित धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की व्याख्या विद्यमान है अब चूँकि जीवविचारित(ऋषियों द्वारा विचारित) एवं ईश्वरविचारित धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष पुरुषार्थों के नाम तो समान ही हैं अतः नाम से भ्रमित होकर वे जीव जो कि केवल भक्तिमार्गीय ही होने योग्य भगवदीयजन हैं, वे भी जीवसम्बन्धी धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के लिए प्रयत्न करने लगेंगे(ऋषियों द्वारा विचार किए गए धर्म आदि पुरुषार्थ जीवसम्बन्धी पुरुषार्थ हैं। चूँकि जीवविचारित पुरुषार्थों के नाम भी धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष ही हैं अतः नाम से भ्रमित होकर एतन्मार्गीय भगवदीयजन भी यदि इन पुरुषार्थों के लिए प्रयत्न करने लगेंगे तो उनका अमंगल होगा, इसी कारण आचार्यचरण जीवविचारित पुरुषार्थों का स्वरूप इस ग्रन्थ में समझाना चाह रहे हैं- यह श्रीद्वारिकेशचरणों का अभिप्राय है), जो पुरुषार्थ भक्तिमार्गीय दृष्टि से तो तुच्छ हैं, इसलिए आचार्यचरण इन धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का शास्त्ररूपेण विवेचन कहते हुए नत्वा इत्यादि शब्दों से मंगलाचरण कर रहे हैं।

नत्वा हरिं सदानन्दं सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहम् ।

बालप्रबोधनार्थाय वदामि सुविनिश्चितम् ॥१॥

हरिं सदानन्दं नत्वा सर्वसिद्धान्तानामप्रबुद्धानां प्रकर्षेण बोधाय सुष्ठु विशेषेण निश्चितं सङ्ग्रह वदामीति सम्बन्धः । एतच्छास्त्रानुसारेण भजतां प्रतिबन्धनिराकरणपूर्वकं स्वानन्दं कृपया तेभ्यः प्रयच्छतीति नामद्वयकथनम् । तादृशे तु जीवैरेतावत्सदुपशिक्षितं 'नमो नम' इति न्यायेन नमनमेव कर्तव्यम् । 'किमासनन्त' इत्यादिना, नाधिकं कर्तुं शक्यमिति सिद्धान्तः । एवं परंपराकरणार्थं ग्रन्थादौ तन्निबन्धनम् ।

आपश्री आज्ञा करते हैं- सदानन्द हरि को नमन करके समस्त सिद्धान्तों का अप्रबुद्धों को विशेषरूप से बोधन कराने के लिए, सुंदर ढंग से निश्चित करके, उनका संग्रह करके कह रहे हैं। इस बालबोधशास्त्र के अनुसार भगवान का भजन करने वालों के प्रतिबन्धों का निराकरण करके प्रभु कृपा करके अपना आनन्द उन्हें प्रदान करेंगे- यह बताने के लिए आचार्यचरणों ने प्रभु के लिए 'हरि' और 'सदानन्द' यह दो नाम कहे हैं। इससे यह बात ज्ञात होती है कि, सज्जनों द्वारा बताए "नमो नमः" इस वाक्यानुसार जीवों को ऐसे कृपालु प्रभु को नमन ही करना चाहिए। और, "किमासनन्ते" इत्यादि वाक्यानुसार जीव नमन के अतिरिक्त प्रभु की अन्य कोई सेवा कर भी नहीं सकता- यह सिद्धान्त भी है। और, ग्रन्थ के आरम्भ में ही प्रभु को नमन करने की परिपाटी भी एतन्मार्ग में बन जाय, तदर्थ आचार्यचरणों ने ग्रन्थ के आरम्भ में ही प्रभु को नमन किया है।

सर्वशब्देनात्र प्राकरणीयकत्वात्प्रमाणत्वावच्छिन्नानां तत्तत्प्रमेयप्रमापकानां ग्रहणम्, तेषामशेषतो निरूपणे ग्रन्थबाहुल्यं बुद्धिक्षोभस्तेनैव वा कालनयनं भवेदिति तदर्थं तत्तच्छास्त्रेषु निर्गलितार्थरूपा ये सिद्धान्तास्तेषां सङ्ग्रहो राशिवदेकीकरणम् । यथा रत्नादिस्वरूपज्ञास्तत्स्वरूपमन्येभ्यो विवेचयितुं परीक्षकेभ्यो दर्शयितुं ताननेकजातीयाननेकान् राशीभूतान् कुर्वन्ति,

तथा कुर्वन्तु । एवमेव सिद्धान्तानां सङ्ग्रहपूर्वकं वदनम् ।

चूँकि प्रकरण अभी यहाँ समस्त शास्त्रों के सिद्धान्तों का चल रहा है, अतः सर्व शब्द के द्वारा अन्य मतों के समस्त प्रमाणों द्वारा उन-उन के सिद्धान्तों के विषय में भी आपश्री बता रहे हैं, यह समझना चाहिए। आपश्री विस्तार में न जाते हुए सिद्धान्तों का मात्र निरूपण ही कर रहे हैं क्योंकि यदि आपश्री संपूर्णतया उन सभी का निरूपण करते तो ग्रन्थ बहुत बड़ा हो जाता, जिससे पाठक की बुद्धि उद्विग्न हो जाती और सारा समय अन्य मतों की चर्चा करने में ही खप जाता, इसलिए उन-उन शास्त्रों के सारभूत सिद्धान्तों का संग्रह करके आपश्री यहाँ कह रहे हैं, यानि एकत्रित करके ढेर लगा कर रख देने की भाँति समस्त मतों के सिद्धान्तों को एकत्रित करके आपश्री कह रहे हैं। जिस प्रकार रत्न आदि के स्वरूप के जानकार एक प्रकार के रत्नों को दूसरे रत्नों से अलग करके, रत्नपरीक्षक को दिखाने के लिए उन अनेक रत्नों में से एक-एक प्रकार के रत्नों का ढेर बना कर रखते हैं, उस प्रकार से आचार्यचरणों ने समस्त सिद्धान्तों को संग्रहीत करके उन्हें इस ग्रन्थ में कहा है।

ननु किमित्येतावान्प्रयासः क्रियते, तत्राहुर्बालेति, बालास्तत्तद्वस्तुस्वरूपज्ञानरहिताः, तेषां प्रकर्षेण बोधनार्थं फलपर्यन्तं सिद्धान्तानां स्वरूपनिर्द्धारार्थम्, बालप्रबोधनमेवार्थः प्रयोजनम्, बालाः स्वहिताहितज्ञानरहिताः, तादृशास्तु सर्वेषां दयापात्राणि भवन्ति । अतस्तदर्थं तथाकरणं युक्तम् । तथापि, स्वतो विचाररहितानामविचारितेन प्रबोधने अनाप्तत्वं स्यादिति, तत्राहुः सुविनिश्चितमिति । सुष्ठु विशेषेण निश्चितं निःसन्दिग्धमित्यर्थः । यद्वा, सुष्ठु तद्विशेषेण निश्चितम् ॥१॥

किन्तु आपश्री इस संदर्भ में इतना प्रयास क्यों कर रहे हैं, यह बाल इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री यहाँ बालक उन्हें कह रहे हैं, जिन्हें उन समस्त मतों के वस्तुस्वरूप का ज्ञान नहीं है; अतः उन्हें भलीभाँति उन मतों का बोध कराने के लिए यानि उनके लिए इन मतों से जो फल प्राप्त होता है, उन फलों को बताने तक के सिद्धान्तों के स्वरूप का निर्धारण करने के लिए, उन बालकों का प्रबोधन करना ही आपश्री का प्रयोजन है। बालकों को अपने हित-अहित का ज्ञान नहीं होता, ऐसे बालक सभी की दया के पात्र होते हैं, अतः ऐसे बालकों का प्रबोधन करना तो उचित ही है। तथापि, ये बात अवश्य है कि बालक स्वयं तो खैर इनका विचार कर ही नहीं सकते किन्तु यदि हम स्वयं भी विचार न करें और बिना विचारे ही उन्हें बोध कराने लग जाएँ, तो बात अप्रामाणिक हो जायेगी, अतः आपश्री सुविनिश्चयम् यों कह रहे हैं, यानि दूसरों के और अपने सिद्धान्त को सुंदर विशेषरूप से निश्चित करके कह रहे हैं, यानि निःसन्दिग्धतया कह रहे हैं- यह अर्थ है। अथवा, सुविनिश्चयम्(सु=सुंदर, वि-विशेषरूप से, निश्चयम्= निश्चित किया हुआ)का अर्थ है- जिस सिद्धान्त का निर्णय अन्य सभी की अपेक्षा अधिक सुंदर है, उसी सिद्धान्त को विशेषरूप से निश्चयपूर्वक कर रहे हैं ॥१॥

एवं नत्वा प्रस्तुतमाहुः, धर्मेति ।

धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्चत्वारोऽर्था मनीषिणाम् ।

जीवेश्वरविचारेण द्विधा ते हि विचारिताः ॥२॥

विहितक्रियाफलप्राप्ताववान्तरव्यापारो यः स धर्मः । कामनासहितः स एव सुखं साधयति । तद्रहितो 'धर्मेण पापमपनुदती'त्यादिना 'जन्मान्तरसहस्रेष्वि'त्यादिना च शुद्धिद्वारा भगवदिच्छाप्राप्यं ज्ञानं भक्तिं वा साधयतीति सर्वथोपादेयः । इस प्रकार से हरि को नमस्कार करके प्रस्तुतविषय की चर्चा आपश्री धर्म इत्यादि शब्दों से आरम्भ कर रहे हैं।

इसके आगे श्रीद्वारिकेशचरण 'धर्मपुरुषार्थ' की आवश्यकता बता रहे हैं। जिस क्रिया को करने का विधान किया गया हो, उस क्रिया में आरम्भ से लेकर फलप्राप्ति होने तक के बीच में जो भी कार्य किए जाते हैं, उन सभी अवान्तर व्यापारों को 'धर्म' कहा जाता है। उदाहरण के रूप में वेद में स्वर्गप्राप्ति के लिए यज्ञ करने का विधान किया गया है। इसमें मुख्यफल है- स्वर्गप्राप्ति। अब स्वर्गप्राप्तिरूप फल प्राप्त होने तक यज्ञ करने की प्रक्रिया में समिधा लानी, अग्नि प्रज्ज्वलित करनी, मन्त्र बोलने इत्यादि जितने कार्य हैं, उन सभी अवान्तर कार्यों को 'धर्म' कहा जाता है- यह अर्थ है। यदि ये धर्म कामनापूर्ति के उद्देश्य से किए जाएँ, तो केवल सुख ही देते हैं। और यदि कामना रखे बिना किए जाएँ तो "धर्म से पाप का नाश होता है(महा0उप/79)", "जन्मान्तर सहस्रेषु" इत्यादि वाक्यों के अनुसार अन्तःकरण की शुद्धि करा के भगवदिच्छानुसार ज्ञान या भक्ति देते हैं, अतः धर्म का आचरण करना सर्वथा उपयोगी होता है।

एवमेव द्यूतचौर्यादिनानुपपत्त्या(?)तत्साक्षात्तत्साधनसाधनेनापि द्वितीयोप्यवश्यमपेक्षितः (अर्थः) । यथा प्रथमे तथा तृतीयेपि

तस्योपयोगः । यद्यपि तत्र उत्पादनप्रकारानियमेपि पूर्वोक्तप्रकारेणेत्यादितश्चाव्यग्रतया तृतीयसाधनं भवतीति तथा । तृतीयोपि तथैव सर्वेषां प्रजननहेतुः 'प्रजातिरमृतमानन्द' इत्युपस्थ इत्याद्युक्तरूपं स तु सर्वेषां सर्वथैवापेक्षितः ।

एवं त्रिवर्गकामा बहवः प्रायेण भवन्ति, मुमुक्षवस्तु स्तोकजरा भवन्ति । तत्तत्पुरुषार्थस्वरूपाभिज्ञा बहुधा प्रत्येकसमुदायाभ्यां तेषु तेषु प्रवर्तन्ते । अत एव मनीषिणामित्युक्तम् । मनीषा यथार्थविषयग्रहणसमर्था बुद्धिः । तद्वतामेव तत्प्रयोजनम्, अनया हीनः पशुतुल्य एव । न हि ते चतुर्षु केष्वपि यतन्ते ।

इसके आगे श्रीद्वारिकेशचरण 'अर्थपुरुषार्थ' की आवश्यकता बता रहे हैं। [[इसी प्रकार चूँकि जुआ-चोरी इत्यादि के द्वारा निश्चितरूप से अर्थ प्राप्त नहीं किया जा सकता और साथ ही साथ इनसे प्राप्त होने वाले अर्थ को पुरुषार्थ भी नहीं कहा जा सकता अतः अर्थप्राप्ति के वे उपाय करने आवश्यक होते हैं जिनसे अर्थप्राप्ति निश्चितरूप से होती हो अथवा तो अर्थप्राप्ति के साधनों के साधन करने के द्वारा भी द्वितीय अर्थपुरुषार्थ प्राप्त करना चाहिए। जिस प्रकार प्रथमपुरुषार्थ धर्म का आचरण करने में अर्थ की आवश्यकता है, उसी प्रकार तृतीयपुरुषार्थ कामपूर्ति में भी अर्थ का उपयोग है। यद्यपि अर्थोपाजन तो पूर्व में कहे अनुसार किसी भी प्रकार से किया जा सकता है, परन्तु यदि पूर्व में कहे अनुसार धार्मिक प्रकार से किया जाय, तब ही अर्थ तीसरे पुरुषार्थ यानि 'कामपुरुषार्थ' का क्लेशरहित साधन बनता है, अतः 'अर्थपुरुषार्थ' भी आवश्यक है। तृतीयपुरुषार्थ 'काम' भी सभी के प्रजनन का हेतु है इसलिए "प्रजापतिरमृतमानन्द" इस श्रुति में कहे अनुसार 'काम' तो सभी को सर्वथा ही अपेक्षित होता है।]कोष्ठक में दी गयी पंक्ति के अनुवाद से पूर्णसंतुष्टि नहीं हुई है। मूलग्रन्थ की पंक्तियाँ भी व्यवस्थित प्राप्त नहीं होती- अनुवादक।

इस प्रकार त्रिवर्ग(धर्म-अर्थ-काम)की चाहना रखने वाले लोग बहुत होते हैं, किन्तु मोक्ष की चाहना रखने वाले तो थोड़े ही होते हैं। इन तीनों पुरुषार्थों के स्वरूप को जानने वाले बहुधा या तो इनमें से किसी एक के लिए अथवा तो तीनों को प्राप्त करने के लिए इनमें प्रवृत्त होते हैं। अतएव आपश्री इन्हें मनीषिणाम् कह रहे हैं। यथार्थविषय को ग्रहण करने में समर्थ बुद्धि को 'मनीषा' कहते हैं। ऐसी मनीषाबुद्धि वाले ही इन पुरुषार्थों के लिए प्रयत्न करते हैं, इनसे हीन तो पशुतुल्य ही होते हैं, वे इन चारों में से किसी भी पुरुषार्थ के लिए प्रयत्न नहीं करते।

ते तु द्विविधाः, लौकिकालौकिकभेदेन । जीवा ऋषयः परिच्छिन्नमतयो वा । ईश्वरो वेदः सर्वनिर्द्धारयिता । ईश्वरत्वेन वेदोद्देशो गोपनार्थः, ताभ्यां कृतो विचारः स्वस्वाधिकारानुसारेण वस्तुनिर्द्धारको भवति । विचारस्तु, अनुपपत्तिनिराकरणपूर्वकं उपपत्तिभिर्मनसा वस्तुनोऽनुसन्धानम् । महतां मनोपि महदेव भवतीति तादृशमेव वस्तु तेषां मनसि निर्द्धारितं भवतीति तेन तैस्तथैव निर्द्धारितम् । जीवास्तदपेक्षया सर्वथा क्षुद्राः परिच्छिन्नधियश्च । अत ईश्वरविचारितादेतद्विचारितस्य भेदस्तात्त्विक एव । अत एव हीत्यव्ययम् ॥२॥

धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष दो प्रकार के होते हैं, लौकिक और अलौकिक। मूलश्लोक में जीव का अर्थ है- ऋषिगण, यानि सीमितबुद्धि वाले; और ईश्वर का अर्थ है- 'वेद', जो कि सभी का निर्धारक है। आचार्यचरणों ने गोपनीयता रखने के लिए वेद को ईश्वर पद से कहा है, गोपनीयता कदाचित् इसलिए क्योंकि वेद का तात्पर्य जानने के लिए सभी अधिकारी नहीं होते। ऋषियों एवं वेद के द्वारा धर्म-अर्थ-काम-मोक्षपुरुषार्थों पर किया गया विचार जीव के अपने-अपने अधिकारानुसार वस्तु का निर्धारक होता है, यानि पुरुषार्थों की परिभाषा सभी के लिए एक जैसी नहीं होती अपितु जीव के अपने-अपने अधिकारानुसार, उसकी अपनी योग्यता के अनुसार होती है। लौकिकबुद्धि वालों के लौकिकपुरुषार्थ एवं परमार्थ का चिंतन करने वालों के लिए अलौकिकपुरुषार्थ। यानि अर्थप्राप्ति का प्रकार सभी के लिए एक जैसा नहीं है, धर्माचरण सभी के लिए एक जैसा नहीं है अपितु अपने अपने अधिकारानुसार है-यह अर्थ है। विचार का अर्थ है- अयुक्तता का निराकरण करके युक्तियों द्वारा मन से वस्तुओं को समझना। महान पुरुषों का मन भी महान ही होता है, अतः उनके मन में महानवस्तु के विचार का ही निर्धारण होता है, इसलिए ईश्वर चूँकि महान हैं अतः ईश्वर ने जिस प्रकार से इन पुरुषार्थों का निरूपण किया वह भी महान है, परन्तु, जीव तो ईश्वर की तुलना में सर्वथा क्षुद्र होते हैं एवं सीमितबुद्धि वाले होते हैं, अतः ईश्वर द्वारा विचारित धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष और जीव द्वारा विचारित धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष में भेद होना तो तात्त्विक ही

है। अतएव आपश्री ने इस अर्थ को युक्त बताने के लिए हि अव्यय का प्रयोग किया है ॥२॥

उद्देशतस्तानुक्त्वा विविच्य तानेव निरूपयन्ति अलौकिक इति ।

अलौकिकास्तु वेदोक्ताः साध्यसाधनसंयुताः ।

लौकिका ऋषिभिः प्रोक्तास्तथैवेश्वरशिक्षया ॥३॥

अलौकिकः पुरुषोत्तमः, तत्सम्बन्धिनस्ते तु वेदेनैव निरूपयितुं शक्याः । तस्यैवानुभवविषयत्वात्तेषाम् । साध्यानि अवान्तरफलरूपाणि । साधनानि पुरुषार्थस्वरूपसिद्धयै अव्यभिचारितया कारणानि । मुख्यफलरूपास्तु स्वयमेव भवन्तीति वेदेन उक्ताः साधनैः सहिता ये साध्याः । सूत्रोक्तानां साध्यसाधनानां परस्परमव्यभिचारेण हेतुहेतुमद्भाव इति ज्ञापनार्थं सम्यग्योगो निरूपितः ।

इन पुरुषार्थों के नाम बताकर अब आचार्यचरण इनका विवेचन करने के लिए अग्रिमश्लोक में अलौकिक इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। अलौकिक यानि पुरुषोत्तम; और पुरुषोत्तम से सम्बन्धित धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष अलौकिकपुरुषार्थों का निरूपण तो वेद ही कर सकता है। क्योंकि अलौकिक धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष पुरुषार्थ तो वेद के ही अनुभव का विषय बन सकते हैं, वेद ही उनको समझ सकते हैं, जीव के अनुभव का विषय नहीं बन सकते, इसलिए आचार्यचरण अलौकिकपुरुषार्थों को अलौकिकास्तु वेदोक्ताः कह रहे हैं। आगे श्रीद्वारिकेशचरण यह बता रहे हैं कि, वेद ने जो 'साध्य' और 'साधन' के सहित अलौकिकपुरुषार्थों का निरूपण किया है, उसका अर्थ क्या है। श्रीद्वारिकेशचरणों ने इस पंक्ति का क्या अर्थ किया है, यह पहले से ही समझ लेना आवश्यक है। श्रीदेवकीनन्दनचरणों ने अलौकिकास्तु वेदोक्ताः साध्यसाधनसंयुताः पद में (1)'साध्य' का अर्थ किया है- अलौकिकपुरुषार्थ एवं (2)'साधन' का अर्थ किया है- इन पुरुषार्थों को सिद्ध करने के लिए किए जाने वाले साधन या उपाय। जबकि श्रीपुरुषोत्तमचरणों ने एवं श्रीद्वारिकेशचरणों ने अलौकिकास्तु वेदोक्ताः साध्यसाधनसंयुताः पंक्ति में दो के स्थान पर तीन कोटियाँ बनायीं हैं। (1)अलौकिक=मुख्यफलरूप अलौकिकपुरुषार्थ, (2)साध्य=अवान्तरफल एवं (3)साधन=पुरुषार्थों को सिद्ध करने के साधन/उपाय। मूलपाठ में कहे साध्यसाधनसंयुताः पद में साध्य का अर्थ है- धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष पुरुषार्थों से प्राप्त होने वाले अवान्तरफल। साधन शब्द का अर्थ है- इन पुरुषार्थों का स्वरूप सिद्ध करने के लिए अपरिवर्तित कारण, यानि इन पुरुषार्थों का वास्तविकस्वरूप सिद्ध होने में वे कारण जो कभी बदलते नहीं अपितु वही के वही रहते हैं। इसे धर्मपुरुषार्थ के संदर्भ में समझें। यज्ञ करना धर्मपुरुषार्थ है। यज्ञ करने के लिए 'सोम' नामक पदार्थ की आवश्यकता होती है। श्रीद्वारिकेशचरणों के अनुसार सोम 'साध्य' है। अब सोम की लाने की व्यवस्था किस प्रकार से करनी, इसकी पद्धति भी यज्ञनियमों के अंतर्गत बतायी गयी है अतः वह पद्धति 'साधन' है। इस प्रकार की जितनी पद्धतियाँ बतायी गयीं हैं, उन्हीं पद्धतियों का अक्षरशः पालन करना चाहिए, उनमें परिवर्तन नहीं किया जाना चाहिए अन्यथा यज्ञ दोषपूर्ण माना जाता है अतः श्रीद्वारिकेशचरण इनको अपरिवर्तित कारण/साधन कह रहे हैं। इस संदर्भ को समझने के लिए श्रीपुरुषोत्तमचरणों की टीका भी अवश्य देखनी चाहिए। जबकि मुख्यफलरूप तो स्वयं ये चारों अलौकिकपुरुषार्थ ही हैं। अतः इस दृष्टि से मूलपाठ में कहे अलौकिकास्तु वेदोक्ताः साध्यसाधनसंयुताः पंक्ति का अर्थ हुआ- वेद में साधनों सहित साध्य के द्वारा सिद्ध होने वाले जो पुरुषार्थ हैं, वे अलौकिकपुरुषार्थ हैं। सूत्र में कहे गए 'साध्य' और 'साधन' में परस्पर हेतुहेतुमद्भाव है, यानि वेद में जो 'साधन' और 'साध्य' बताए गए हैं, वे वही रहने चाहिए, उनमें अंतर नहीं आना चाहिए- यह बताने के लिए आचार्यचरणों ने संयुताः शब्द में 'सं' उपसर्ग लगा कर 'साध्य' और 'साधन' दोनों का सम्यक्तया आपस में सदा जुड़े रहना बताया है।

एवं सपरिकराणामलौकिकानां निरूपणप्रकारमुक्त्वा शिष्टानामालौकिका ऋषिभिः प्रोक्ता इति । ऋषयो मन्त्रदृष्टारः, तैः स्वज्ञानानुसारेण प्रकर्षेण उक्ताः । ननु न हि ते वेदाद्यसंमत्या स्वतन्त्रतया पुरुषार्थदृष्टारो वक्तारो वा भवन्ति । तथा सत्यलौकिकानां तेषां तेनैव निरूपणस्य सिद्धत्वात्किमिति वेदाद्यनुक्तानां तेषामप्रामाणिकानां निरूपणं तैः क्रियते इति तत्राहुः, तथैवेश्वरशिक्षयेति । वेदस्तु लौकिकालौकिकेषु नियन्ता, अत एवेश्वरः, तच्छिक्षया तथाविधानां कथनम् । ऋषीणां तु वेदेनैव सर्वज्ञत्वं ऋषित्वं च प्राप्तानां लौकिकैकपुरुषार्थप्रवर्तनयोग्यत्वात्तथाविधतत्प्रवर्तनं वेदस्यापि सम्मतमिति योगजधर्मेण वेदार्थविचारे तथाभूता एव ते स्फुरद्रूपा जाता इति तथैवोक्तवन्तः । अत एव प्रोक्ता इति निरूपितम् ॥३॥

इस प्रकार परिकरसहित अलौकिक धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष पुरुषार्थों का निरूपण हुए होने का प्रकार कहकर बचे

लौकिकपुरुषार्थों के विषय में आचार्यचरण लौकिका ऋषिभिः प्रोक्ताः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। अब ऋषियों द्वारा विचारित पुरुषार्थों को लौकिकपुरुषार्थ कहने में एक उलझन यह होती है कि, ऋषि तो मन्त्रदृष्टा होते हैं, इसलिए उन्होंने अपने ज्ञानानुसार मन्त्रों के योग्य अर्थों का तात्पर्य समझते हुए ही धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष पुरुषार्थों की व्याख्या की है; अतः मन्त्रदृष्टा होने के नाते वे वेदादि की असम्मतिपूर्वक स्वतन्त्रतया पुरुषार्थों के दृष्टा या वक्ता तो हो नहीं सकते ! इसलिए यदि उन्होंने इन पुरुषार्थों की व्याख्या की है तो उचित व्याख्या ही की होगी !! साथ ही साथ, यह भी है कि अलौकिकपुरुषार्थों का निरूपण तो वेद ने ही कर दिया था, और जब वेद ने ही अलौकिकपुरुषार्थों का निरूपण कर दिया था, तो फिर जिसे वेद ने नहीं कहा ऐसे अप्रामाणिक धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष पुरुषार्थों का निरूपण ऋषियों ने क्यों किया या क्यों करेंगे ? यदि ऐसी शंका होती हो, तो आचार्यचरण तथैवैश्वरशिक्षया इत्यादि शब्दों से इसका समाधान कह रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य यह कि, वेद तो लौकिक-अलौकिक दोनों प्रकार के पुरुषार्थों का नियन्त्रण करने वाला है, अतः आचार्यचरण वेद को ईश्वर कह रहे हैं, और वेद ने दी शिक्षा के अनुसार ही ऋषियों ने पुरुषार्थों का निरूपण किया है। और ऋषिगणों को सर्वज्ञता और ऋषित्व भी वेद से ही प्राप्त हुआ है, अतः चूँकि अलौकिकपुरुषार्थों का निरूपण तो वेद ने कर ही दिया था इसलिए अलौकिकपुरुषार्थों का नियन्त्रा तो स्वयं वेद ही है, इसलिए इन ऋषियों के लिए अब लौकिकपुरुषार्थों का प्रवर्तन करना ही शेष बचा था, इसलिए यदि उन्होंने लौकिकपुरुषार्थों का भी प्रवर्तन किया, तो भी इसमें वेद की ही सम्मति माननी चाहिए, यानि वेद की आज्ञानुसार ही किया। और चूँकि ऋषिगणों ने अपने योगजधर्म के बल से वेद की आज्ञा का वास्तविक अर्थ जान लिया था (ऋषिगण अपने योगधर्म के बल से लौकिक इन्द्रियों द्वारा ज्ञात न होने वाले अलौकिकपदार्थों को भी देख लेते हैं), अतः उन्होंने जान लिया कि वेद ने उन्हें लौकिकपुरुषार्थों का निरूपण करने की प्रेरणा दी है, इसलिए उन्होंने लौकिकप्रकार से ही पुरुषार्थों का विवेचन कहा। इसी गूढ़ अभिप्राय को बताने के लिए आचार्यचरणों ने प्रोक्ताः शब्द का प्रयोग किया है ॥३॥

ननु जीवविचारितेभ्यस्तेभ्य ईश्वरविचारितानां तेषामुत्तमत्वात्त एव किमिति नोच्यन्ते तत्राहुः - लौकिकांस्त्विति ।

लौकिकांस्तु प्रवक्ष्यामि वेदादाद्या यतः स्थिताः ।

धर्मशास्त्राणि नीतिश्च कामशास्त्राणि च क्रमात् ॥४॥

तुशब्दः पूर्वविधाद्व्यावर्तयति । तथापि, ऋषिभिस्ते निरूपिता एव किं भवदुक्त्येति चेत्, न । प्रवक्ष्यामीति प्रकर्षेण वक्ष्यामि । ऋषिभिर्निरूपिताः, परं नालौकिकेभ्यो विविच्य, अहं तु तेभ्यो विविच्य स्वरूपतः फलतः स्थूणाखननन्यायेन लौकिकान्वक्ष्यामि । किन्तु यहाँ किसी पूर्वपक्षी को एक शंका यह होती है कि, जीवविचारितपुरुषार्थों की तुलना में ईश्वर/वेदविचारित पुरुषार्थ तो उत्तम होते हैं, अतः भले ही ऋषियों ने अलौकिकपुरुषार्थ नहीं कहे परन्तु अब आचार्यचरण भी सीधे-सीधे अलौकिकपुरुषार्थों के विषय में ही चर्चा क्यों नहीं करते, क्यों व्यर्थ में लौकिकपुरुषार्थों के विषय में बता रहे हैं ? तो आपश्री इसका समाधान लौकिकांस्तु इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

तु शब्द बताता है कि, आचार्यचरण अलौकिकपुरुषार्थों की चर्चा न करके लौकिकपुरुषार्थों की चर्चा कर रहे हैं। आचार्यचरणों के सामने प्रश्न यह है कि, लौकिकपुरुषार्थों के विषय में ऋषियों ने तो निरूपित कर ही दिया है, फिर आपको लौकिकपुरुषार्थों के विषय में बताने की क्या आवश्यकता है ? तो आपश्री इसका उत्तर प्र+वक्ष्यामि शब्द से दे रहे हैं, यानि इससे आपश्री का आशय यह कि, ऋषियों ने तो उनका निरूपण सामान्यतया किया है, परन्तु हम विशेषरूप से कहेंगे। यानि आपश्री का कथन यह कि, ऋषियों ने लौकिकपुरुषार्थों का निरूपण किया तो अवश्य है परन्तु उन्हें अलौकिकपुरुषार्थों से अलग करके नहीं बताया, एकमेक कर दिया, किन्तु हम तो उन चारों पुरुषार्थों को लौकिक-अलौकिक ढंग से अलग-अलग करके उन्हें स्वरूप के दृष्टिकोण से और फल के दृष्टिकोण से स्थूणाखननन्यायानुसार दृढ़ करते हुए लौकिकपुरुषार्थों के विषय में कहेंगे।

तथापि, सामान्येभ्यो विशिष्टा एव कथं नोच्यन्ते ? तत्राहुर्वेदादाद्या इति । यतो वेदादाद्या अलौकिका वेदस्वरूपाभिज्ञैस्तद्वाक्यैरेव तदाशयविचारे निर्गलितार्थरूपाः । तथाधिकारिप्राप्तिविषयत्वेन विचारकाणां मनसि

स्फुरद्रूपतया स्थिताः । अन्येषां सामान्यतस्तत्स्वरूपस्थितिज्ञानं समाहृत्य सर्वनिरूपणे वाक्यशेषोक्तन्यायेन स्वत एव लौकिकेभ्यो भिन्नतया तद्वदतीति मुख्यान्विहाय गौणानेव कोटिद्वयभेदेन निरूपयन्ति ।

तथापि कोई ये प्रश्न करते हैं कि, आपश्री सामान्य लौकिकपुरुषार्थों के बदले विशिष्ट अलौकिकपुरुषार्थों के विषय में ही क्यों नहीं बताते ? तो आपश्री इसका स्पष्टीकरण वेदात् आद्याः इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। इससे आपश्री यह बताना चाह रहे हैं कि, आद्या/अलौकिकपुरुषार्थों के विषय में तो वेद का स्वरूप जानने वाले विद्वानों ने वेदवाक्यों द्वारा ही वेद का आशय जानकर उनका सारभूत तत्त्व कह दिया है। और चूँकि उन्होंने ये समझ लिया कि ये अलौकिकपुरुषार्थ तो उनके लिए ही हैं और वे ही इन्हें प्राप्त कर सकते हैं, जो इनके वास्तविक अधिकारी हैं- यह बात वेदविचारकों के मन में स्थित है, अतः उन्होंने अलौकिकपुरुषार्थों को प्रकट नहीं किया। अब जहाँ तक अन्य सामान्य अधिकारियों के लिए बात है, तो इसमें आचार्यचरणों का अभिप्राय यह है कि, पुरुषार्थ कहाँ स्थित हैं, कहाँ बताए गए हैं- इसका ज्ञान कराते हुए जब संक्षेप में लौकिक-अलौकिक सभी पुरुषार्थों को मिलाकर निरूपण करेंगे और लौकिकपुरुषार्थों का निरूपण करेंगे, तो वाक्यशेषोक्तन्यायानुसार अपने आप ही लौकिकपुरुषार्थों से हटकर भिन्नतया अलौकिकपुरुषार्थों का भी निरूपण हो जायेगा और अपने आप पता चल जायेगा कि अलौकिकपुरुषार्थों का स्वरूप क्या है, अतः आपश्री मुख्य-अलौकिकपुरुषार्थों की चर्चा न करते हुए गौण-लौकिकपुरुषार्थों की दो कोटि बनाते हुए उसका निरूपण कर रहे हैं। श्रीद्वारिकेश्वरचरणों का आचार्यचरणों ने वाक्यशेषोक्तन्याय के अनुसार अलौकिकपुरुषार्थों का वर्णन किया है- यह कहने का तात्पर्य यह है कि, लौकिकपुरुषार्थों का निरूपण करने से ही अपने आप यह बात समझ में आ जायेगी कि इनमें किस बात की न्यूनता रह गयी। और उस न्यूनता का चिंतन करने से यह बात भी समझ में आ जायेगी कि, अलौकिकपुरुषार्थों का स्वरूप क्या होना चाहिए जिसमें ये न्यूनताएँ नहीं होंगी और वास्तविक अलौकिकमोक्षप्राप्ति किसे कहते हैं।

तत्र त्रयाणामेका कोटिः, तुरीयस्यैका । पूर्वकोटिप्रतिपादकानाहुः । धर्माः शारीराः, तत्प्रतिपादकानि शास्त्राणि । अर्थस्तूभ्यत्र हेतुः, तत्प्रतिपादकं नीतिशास्त्रम् । कामस्तु वात्स्यायनोक्तप्रकारतः, तत्प्रतिपादकं तु तदुक्तमेव शास्त्रम् ॥४॥

लौकिकपुरुषार्थों में धर्म-अर्थ-काम इन तीन पुरुषार्थों की एक कोटि है एवं चौथे मोक्ष की दूसरी कोटि है। अब आपश्री ने पूर्वकोटि में जिनको रखा है, उन "धर्म-अर्थ-काम" को धर्मशास्त्राणि इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। धर्म यानि शरीर के धर्म; शरीरसम्बन्धित धर्म को बताने वाले शास्त्रों को आपश्री धर्मशास्त्राणि कह रहे हैं। अर्थ तो धर्म और काम दोनों में उपयोगी होता है, और अर्थ को बताने वाले शास्त्रों को आपश्री ने नीतिशास्त्राणि शब्द से कहा है। काम का अर्थ है- वात्स्यायन ने जिस प्रकार से कहा है, वह; और काम को बताने वाला शास्त्र तो वात्स्यायन द्वारा कहा हुआ कामशास्त्र ही है ॥४॥

तदेवाहुस्त्रिवर्गेति ।

त्रिवर्गसाधकानीति न तन्निर्णय उच्यते ।

मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि लौकिके परतः स्वतः ॥५॥

द्विधा द्वे द्वे स्वतस्तत्र सांख्ययोगौ प्रकीर्तितौ ।

त्यागात्यागविभागेन साङ्ख्ये त्यागः प्रकीर्तितः ॥६॥

एतानि त्रिवर्गसाधनानि इति कार्यतः कारणतः फलतः स्वरूपतस्तन्निरूपणे उच्यन्त इति तत्प्रतिपादकानि, नाहं वदामीति ।

इन्हीं धर्म-अर्थ-काम पुरुषार्थ सिद्ध करने के साधनों के लिए आपश्री त्रिवर्ग इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

श्लोक की पहली पंक्ति में आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि- धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र एवं कामशास्त्र ये तीनों क्रमशः धर्म-अर्थ-काम पुरुषार्थों को सिद्ध करने के साधन हैं, और इन तीनों शास्त्रों में इन तीनों पुरुषार्थों का कार्यतः, कारणतः, फलतः और स्वरूपतः निरूपण कहा गया है इसलिए ये शास्त्र इनके प्रतिपादक शास्त्र कहे जाते हैं; और चूँकि इन शास्त्रों में इनके विषय में भरपूर कह ही दिया गया है, तो आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, हम अब इनके विषय में नहीं कह रहे हैं।

द्वितीयकोटिसाधनान्याहुर्मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि लौकिकमोक्षप्रतिपादकानीत्यर्थः । योगः साङ्ख्यम् । तत्तच्छक्तिमत्त्वेन विष्णुशिवप्रतिपादके द्वे, एवञ्चतुर्धा ।

इसके पश्चात् आपश्री द्वितीयकोटि में आने वाले मोक्षपुरुषार्थ के साधनों के विषय में मोक्षे चत्वारि इत्यादि शब्दों से कह

रहे हैं। श्रीद्वारिकेशचरण पूर्व में ही पुरुषार्थों की दो कोटियाँ बना कर चले हैं। एक कोटि में "धर्म-अर्थ-काम" एवं दूसरी कोटि में "मोक्ष"। चत्वारि शास्त्राणि से आपश्री का तात्पर्य है- लौकिकमोक्ष का प्रतिपादन करने वाले चार शास्त्र हैं अर्थात् (1)योग (2)सांख्य एवं (3)विष्णु (4)शिव की शक्ति बताते हुए इन दोनों देवताओं का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र- यों लौकिकमोक्ष बताने वाले चार प्रकार के शास्त्र हैं।

वैष्णवे शैवे वा तेषां, कोटिभेदेन निरूपणम् । द्वाभ्यामेकाकोटिस्तथैव चापरा । एकस्या द्विरूपत्वं त्यागात्यागभेदेन । एका स्वतः स्वकृतिसाध्यतया । अपरा परतः मोचककृतिसाध्यतया । अतः कोटिद्वयम् ।

अथवा तो यों अर्थ करें कि "सांख्य-योग" दोनों को समान कोटि में रखते हुए और "वैष्णव-शैव" इन दोनों को समान कोटि में रखते हुए ऊपर कहे चार मोक्षशास्त्रों का निरूपण किया गया है; यानि "सांख्य-योग" ये दोनों एक कोटि में और "वैष्णव-शैव" ये दोनों दूसरी कोटि में। पहली कोटि में आनेवाले सांख्य-योग की द्विरूपता त्याग-अत्याग के भेद से है, यानि सांख्य और योग में भेद इस प्रकार से है कि, सांख्य में त्याग आवश्यक बताया गया है और योग में त्याग आवश्यक नहीं बताया गया है। पहली कोटि स्वतः के अंतर्गत आती है यानि अपने द्वारा किए साधनों के द्वारा मोक्षप्राप्ति होने के अंतर्गत आती है। दूसरी कोटि परतः के अंतर्गत आती है यानि मोक्ष प्रदान करने वाले विष्णु/शिव के द्वारा मोक्षप्राप्ति होने के अंतर्गत आती है। इसलिए इन चारों शास्त्रों की दो कोटियाँ कर दी गयी हैं।

लौकिकमोक्ष का प्रतिपादन करने वाले चार शास्त्र= "सांख्य-योग-वैष्णव-शैव" की 2 कोटियाँ

"स्वतः कोटि" के अंतर्गत 2 शास्त्र

(1)योग (2) सांख्य
(अत्याग) (त्याग)

[स्वकृतिसाध्य]

"परतः कोटि" के अंतर्गत 2 शास्त्र

(1)वैष्णव (2)शैव
विष्णु द्वारा मोक्ष शिव द्वारा मोक्ष

[मोचककृतिसाध्य]

द्विधासती मुक्तिहेतू आहुः साङ्ख्ययोगाविति । तत्र मोक्षप्रतिपादकसमये स्वतो मोक्षप्रतिपादकौ साङ्ख्ययोगौ प्रकर्षेण कीर्तितौ । पूर्वकोटिद्वित्वे हेतुमाहुस्त्यागात्यागेति । साङ्ख्ये त्यागो बाह्याभ्यन्तरभेदेन । योगे त्वान्तर एव । त्यागस्तु संसारनाशद्वारा पुनर्भवनसहिताहङ्कारध्वंसजनने उपक्षीणः ॥५॥६॥

अब दो कोटियाँ हो जाने पर पहली कोटि के अंतर्गत आने वाले मुक्ति प्राप्त करने के 2 हेतुओं को आपश्री सांख्ययोगौ इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इस कोटि के अंतर्गत मोक्षप्रतिपादन करने वाले सिद्धान्त में स्वतमोक्ष का प्रतिपादन करने वाले 2 शास्त्र 'सांख्य' और 'योग' कहे गए हैं। इस कोटि के, यानि स्वतमोक्षप्रतिपादकशास्त्र वाली कोटि के दो प्रकार क्यौं बताए गए, इसका हेतु आपश्री त्याग-अत्यागविभागेन शब्द द्वारा कह रहे हैं। तात्पर्य यह कि सांख्य में बाह्य-आभ्यान्तर दोनों प्रकार का त्याग किया जाता है और योग में तो केवल आन्तररूप से ही त्याग बताया गया है। त्याग किसी भी प्रकार का भी क्यौं न हो परन्तु त्याग तो संसारनाश करवा कर पुनः उत्पन्न न होने में और अहंकार का ध्वंस कराने में ही खप जाता है, तात्पर्य यह कि त्याग की भूमिका केवल अहंकार का नाश कराने तक ही है अर्थात् केवल त्याग करने से मोक्षप्राप्ति नहीं हो जाती अपितु तदतिरिक्त साधन करने भी आवश्यक होते हैं ॥५॥६॥

अहन्ताममतानाशे सर्वथा निरहङ्कृतौ ।

स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते ॥७॥

तदर्थं प्रक्रिया काचित् पुराणेऽपि निरूपिता ।

ऋषिभिर्बहुधा प्रोक्ता फलमेकमबाह्यतः ॥८॥

एवं सर्वथाऽहङ्काराभावे यदा जीवः स्वमूलभूते अक्षरात्मके ब्रह्मणि उद्भूतत्रितयांशोभूत्वा स्थितो भवति, तदा स जीवः कृतः अर्थः पुरुषार्थो येन, तादृशः स निगद्यते । तथैव च निबन्धे, 'संसारस्य लयोऽपुनरावृत्तिः, मुक्तौ न प्रपञ्चस्य कर्हिचिदि'ति । श्रुतिः स्मृतिश्च, 'न स पुनरावर्तते यद्गत्वा न निवर्तन्ते' इत्यादिनोक्तरूपाऽपुनरावृत्तिश्च तस्य, ततोप्यधिकभजनानन्ददानोन्मुखभगवदधीना, मुक्तोपसृप्यव्यपदेशादिवत् । एवं प्रकारकमोक्षे प्रकारान्तरीयसाधनघटना पुराणेपि

निरूपिता । ऋषिभिरपि स्वस्वप्रकृत्यनुसारेण चरमार्थप्रतिपादकत्वेन विविधसाधनकदम्बाः प्रतिपादिताः । तेषां सर्वेषां फलमेकमेव । यथा रात्रि(?)न्यायेन अक्षर एव । तत्र हेतुः, अबाह्यतः एतत्साध्यैकसाधनजातीयैकपरत्वतः ॥७॥८॥

इस प्रकार जब अहंकार सभी प्रकार से दूर हो जाता है और उससे जब जीव अपने मूलभूत अक्षरात्मकब्रह्म में स्थित हो जाता है, यानि जब उसमें (1)अहंकार का नाश, (2)संसार का नाश, और (3)अपने स्वरूप का ज्ञान, ये तीनों बातें उद्भूत हो चुकी होती हैं और उसके बाद वह जब अक्षरब्रह्म में स्थित होता है, तब वह कृतार्थ हुआ कहा जाता है; 'कृतार्थ' होने का अर्थ है- कर लिया है अर्थ यानि पुरुषार्थ जिसने- ऐसा कहा जाता है। यही बात निबन्ध में "संसारस्य लयो(शा०प्र-24)" इस वाक्य द्वारा कही गयी है। श्रुति और स्मृति में भी "न स पुनरावर्तते", "यद्वत्त्वा न निवर्तन्ते" इत्यादि वाक्यों द्वारा यह बात बतायी गयी है कि, ऐसे जीव को पुनः भूतल पर आना नहीं पड़ता। इस प्रकार की मुक्ति से भी अधिक बड़ी मुक्ति भगवान के अधीन होकर भजनानन्द का दान मिल जाना है, जैसा कि "मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्(ब्र०सू-1/3/2)" इस सूत्र द्वारा कहा गया है। ऊपर बताए अनुसार अहंकार निवृत्त होकर अंततोगत्वा अक्षरब्रह्म में लीन हो जाने वाले सांख्यमतानुसार मोक्ष के संदर्भ में अन्य प्रकार के कोई साधन करने की बात पुराण में भी निरूपित की गयी है। ऋषियों ने भी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार चरमार्थ का प्रतिपादन करने वाले सांख्यमत के विविध साधनवृन्द का प्रतिपादन किया है, किन्तु ये सभी सांख्यमत चाहे पुराणों में कहे गए हों या ऋषियों द्वारा कहे गए हों, उन सभी साधनों से प्राप्त होने वाला फल एक समान ही है, _____ (यह पंक्ति व्यवस्थित प्राप्त नहीं होती- अनुवादक)। उन सभी प्रकार के सांख्यसाधनों से एक समान फल प्राप्त होने का कारण आपश्री ने अबाह्यतः इत्यादि शब्दों से कहा है, अर्थात् पुराणों और ऋषियों द्वारा बताए गए सांख्य के 'साध्य' और 'साधन' एक समान ही हैं अतः दोनों के द्वारा कहे सांख्य का फल एक समान ही प्राप्त होता है ॥7॥8॥

पूर्वकोटिद्वितीयपक्षमाहुरत्याग इति ।

अत्यागे योगमार्गो हि त्यागोऽपि मनसैव हि ।

यमादयस्तु कर्तव्याः सिद्धे योगे कृतार्थता ॥९॥

त्यागाभावे तु योग एव फलसाधकः । सर्वथा अत्यागे योगोऽपि न सिद्ध्येत् । अतो "मानसमिति विद्वांस" इत्यादिना मानस एव सः । तादृशस्यैव तस्य सात्त्विकत्वात् । योगाः बहुविधाः सबीजनिर्बीजभेदेन । तत्र विविधप्रकारकाणां मध्ये एक एव योगस्तत्स्वरूपाभिज्ञैरादृतः, आत्मबोधकत्वात् । निर्बीजेपि यस्मिन् भगवतो ध्यानं स एव योग आत्मबोधको भवति "स्थूले भगवतो रूप" इत्यादिनोक्तत्वात् । तत्र योगसिद्ध्यर्थं यमादयस्तु कर्तव्याः, ततः सिद्धे योगे योगसिद्धिं प्राप्य मुक्तिं ते प्राप्नुवन्ति । ततस्ते कृतार्था इत्युच्यन्ते ॥९॥

पहली कोटि का दूसरा पक्ष आपश्री अत्याग इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं- यदि त्याग करना संभव न बनता हो, तो योगमार्ग ही फलसाधक हो सकता है, यानि मोक्ष दिला सकता है। किन्तु बिल्कुल ही त्याग न किया जाय, तो योग भी सिद्ध नहीं होता; इसीलिए "विद्वान् कहते हैं कि मानसत्याग होना चाहिए" इत्यादि वाक्यों में मानसिकरूप से त्याग करना बताया गया है। क्योंकि ऐसा त्याग ही सात्त्विकत्याग कहलाता है, यानि ऊपर से तो त्याग कर दिया हो परन्तु मन में कामनाएँ तथापि शेष रह गयीं हों, ऐसा त्याग सात्त्विकत्याग नहीं कहलाता। योग भी सबीज-निर्बीज के भेद से अनेक प्रकार का होता है। इन विविधप्रकार की योगपद्धतियों के अंतर्गत भी एक सबीजयोग को ही विद्वानों ने स्वीकार किया है क्योंकि ऐसा योग आत्मबोधक होता है। निर्बीज योगपद्धति में भी जिसमें भगवान का ध्यान किया जाता है, वही योग आत्मबोधक होता है, जैसा कि "स्थूले भगवतो रूपः(श्री०भा-2/1/23)" इत्यादि वाक्यों में कहा भी गया है। किसी भी प्रकार के योग को सिद्ध करने के लिए यम-नियम आदि करने चाहिए; ये करने के पश्चात् सिद्धे योगे यानि योगसिद्धि प्राप्त हो जाने पर योगी मुक्ति प्राप्त करते हैं, जिससे वे कृतार्थ कहे जाते हैं- यह आपश्री कहना चाह रहे हैं ॥9॥

द्वितीयकोटिमाहुः, एवं स्वतो मुक्तिप्रकारमुक्त्वा परतोप्याहुः परेति ।

पराश्रयेण मोक्षस्तु द्विधा सोऽपि निरूप्यते ।

ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातस्तद्रूपेण सुसेव्यते ॥१०॥

मोक्षे ये मोचकास्तेषामाश्रयेण मोक्षोऽवश्यं भवत्येव । सोपि द्विविधः, सगुणनिर्गुणभेदेन, सात्त्विकतामसाभ्यां वा ।

अब अग्रिमश्लोक में आचार्यचरण लौकिकमोक्ष प्राप्त करने की दूसरी कोटि के विषय में बता रहे हैं; ऊपर पहली वाली कोटि में आपश्री ने स्वतो-मुक्ति का प्रकार बताया, और अब अग्रिमश्लोक में परतो-मुक्ति का प्रकार पराश्रयेण इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। जो मुक्ति दिलाने वाले देवता(शिव और विष्णु) हैं, उनका आश्रय करने से मोक्ष अवश्य प्राप्त होता ही है। इन देवताओं से प्राप्त होने वाला मोक्ष भी दो प्रकार का होता है, सगुण और निर्गुण प्रकार से, अथवा तो सात्त्विक और तामस प्रकार से(यद्यपि श्रीद्वारकेशचरणों ने इस पंक्ति का स्पष्टीकरण नहीं किया है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि, शिव से प्राप्त होने वाले मोक्ष को या तो सगुणमोक्ष कहा जायेगा अथवा तो वह तामसकोटि के अंतर्गत आयेगा। इसी प्रकार विष्णु द्वारा प्राप्त होने वाले मोक्ष को या तो निर्गुणमोक्ष कहा जायेगा अथवा तो वह सात्त्विककोटि के अंतर्गत आयेगा। कदाचित् मोक्ष के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को सगुण-निर्गुण या सात्त्विक-तामस से कहना चाह रहे हैं।

ननु यथा विष्णुशिवौ पालकनाशकौ तथा ब्रह्मा सर्जकः । कथमयं स्वतन्त्रतया मुक्तिं न प्रयच्छतीत्यत आहुर्ब्राह्मणतां यात इति । ब्राह्मणस्य कर्म भावो वा ब्राह्मणता । ब्रह्म नयति प्रापयतीति तथा । भगवतः सकाशाद्वेदाध्ययनं तेनैव कृतमिति वैदिकेषु च स एव मुख्यः तत्कर्मनिष्ठातेषु च । अत एव ब्राह्मणानामपि विध्युक्तप्रकारककर्मानुष्ठातृणाम्, महोपनिषज्ज्ञानवतामपि जरामर्याग्निहोत्रं कुर्वतामवभृथानन्तरं ब्रह्मसायुज्यं ततस्तन्मुक्त्यवसरे तत्सायुज्यं प्राप्तानां तेनैव सार्द्धं मुक्तिर्भवति । तदुक्तं तैत्तिरीयोपनिषत्सु, 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्येत्यारभ्य एतौ वै सूर्याचन्द्रमसोर्महिमानौ ब्राह्मणो विद्वानभिजयति, तस्माद्ब्रह्मणे महिमानमाप्नोति, तस्माद्ब्रह्मणे महिमानम्' इत्यन्तेन । यथा ब्रह्मा, तथैव शिवो विष्णुश्च गुणाधिष्ठातारो देवाः, त्रयाणामपि साम्यम् । एका सर्जिका, अपरा पालिका, तृतीया संहारिका । एतादृशस्यापि ब्रह्मणो भगवद्रूपत्वेनैव भजनमिष्टसाधनम्, न तु ब्रह्मत्वेन । सरस्वत्याः शापाज्जीवसहकृतेश्वरांशत्वाच्च, स्वतन्त्रतया भजनीयत्वस्यापगमात् ॥१०॥

अब यहाँ शंका यह होती है कि, जिस प्रकार विष्णु और शिव क्रमशः पालक और नाशक हैं, उसी प्रकार ब्रह्माजी भी तो सृष्टि के सर्जक हैं ! फिर ब्रह्माजी स्वयं स्वतन्त्ररूप से मुक्ति क्यों नहीं देते ? यदि ऐसी शंका होती हो, तो आचार्यचरण इसका समाधान ब्राह्मणतां यातः इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। 'ब्राह्मणता' का अर्थ होता है- ब्राह्मण का कर्म या ब्राह्मण का भाव रखना। ब्रह्म के निकट ले जाये अथवा तो ब्रह्म की प्राप्ति करवाए, उसे 'ब्राह्मण' कहते हैं। भगवान से वेदाध्ययन ब्रह्माजी ने ही किया इसलिए वैदिकप्रक्रियाओं में एवं वैदिककर्मों के निष्णातों में ब्रह्माजी ही मुख्य हैं। इसी कारण विधि के अनुसार कर्मों का अनुष्ठान करने वाले, महानारायणोपनिषद् का ज्ञान रखने वाले, जरामर्याग्निहोत्र करने वाले ब्राह्मणों को भी अवभृथस्नान के पश्चात् ब्रह्माजी से सायुज्य प्राप्त होता है, और सायुज्य होने के बाद जब उनकी मुक्ति का समय आता है, तब सायुज्य प्राप्त किए ब्राह्मणों की ब्रह्माजी के संग ही मुक्ति हो जाती है। यही बात तैत्तिरीयसंहिता में "तस्यैवं विदुषो(महा०उप०/ज्ञानयज्ञ/४०)" इस वाक्य से लेकर "एतौ वै सूर्याचन्द्रमसोर्महिमानौ(महा०उप०/ज्ञानयज्ञ/४०)" इस वाक्य तक कही गयी है। जिस प्रकार ब्रह्माजी भगवान के गुणावतार हैं, उसी प्रकार शिव और विष्णु भी गुणावतार हैं। इनमें से ब्रह्माजी सर्जक हैं, विष्णु पालक हैं और शिव संहारक हैं। ऐसे ब्रह्माजी का भी उन्हें भगवद्रूप मानकर भजन करना इष्टसाधक होता है, न कि ब्रह्माजी का ब्रह्माजी के रूप में भजन करने से, क्योंकि ब्रह्माजी को तो सरस्वती का शाप लगा है, और भगवान के अंश होने के कारण वे जीवकोटि में ही हैं, अतः ब्रह्माजी का स्वतन्त्ररूप से भजनीय होना निवृत्त हो चुका है ॥१०॥ जरामर्याग्निहोत्र= कर्ममार्ग में जीवनपर्यंत अग्निहोत्र करते रहने का विधान है। किन्तु जरा यानि वृद्धावस्था आ जाने पर अग्निहोत्र कैसे करें, इस प्रश्न के उत्तर में समाधान दिया जाता है कि, जरावस्था आने पर जब शरीर निर्बल हो जाय और अग्निहोत्र न कर सकें, तब अग्नि को अपने भीतर आत्मसात कर लेने का विधान है और तब यज्ञ की संपूर्ण प्रक्रिया मन में ही चलती रहती है। इसे मानसयज्ञ कहा जाता है और इसे मरणपर्यंत करते रहने का विधान है। इसलिए इस प्रक्रिया को 'जरामर्याग्निहोत्र' कहा जाता है। अवभृथस्नान= प्रधानयज्ञ समाप्त होने पर यज्ञकर्ता सामूहिक नदीस्नान करते हैं, जिसे 'अवभृथस्नान' कहा जाता है। यज्ञादि के न्यूनाधिक दोष की शान्ति के निमित्त कुछ होम किए जाते हैं और अवभृथस्नान इसका एक मुख्य अंग होता है।

ते सर्वार्था न चाऽऽद्येन शास्त्रं किञ्चिदुदीरितम् ।

अतः शिवश्च विष्णुश्च जगतो हितकारकौ ॥११॥

ये एवं भजनकर्तारः ते सर्वार्थाः, सर्वोऽप्यर्थो येषां तादृशाः । न चाद्येन, ब्रह्मत्वेन भजतामेवं सर्वार्थसिद्धिर्न भवतीत्यर्थः । ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातो, यो ब्रह्मा, सृष्टिकर्तृत्वात्, सृष्ट्यादिककर्तृत्वं हि भगवद्धर्मः, सृष्टिकर्तृत्वेन रूपेण तं ये (ब्रह्माणं) सेवन्ते तेषां मोक्षातिरिक्तसर्वार्थसिद्धिर्भवतीति राजसत्त्वात् न मोक्षसाधकत्वम् । तत्र प्रमाणम्, शास्त्रमेतदर्थप्रतिपादनेन किञ्चिदुदीरितम् । यतः सर्जकत्वात् वैखानसोक्तपूजाप्रतिपादकत्वात्परमेष्ठित्वादवतारादिवार्तासूचकत्वात् सर्वोपकारकत्वं ब्रह्मणः । तथा भजनीयता च ॥११॥ आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, जो उक्त प्रकार से ब्रह्माजी को भगवद्रूप मानकर उनका भजन करते हैं, वे सर्वार्थाः हैं यानि उनको समस्त अर्थ प्राप्त हो जाते हैं। न चाद्येन यानि ब्रह्माजी का ब्रह्माजी के रूप में भजन करने वालों को ब्रह्माजी से सर्वार्थसिद्धि प्राप्त नहीं होती- यह अर्थ है। ब्राह्मणता लिए हुए ब्रह्माजी चूँकि सृष्टि करते हैं और सृष्टि आदि कार्य करने तो भगवद्धर्म हैं, अतः सृष्टिकर्ता के रूप में जो ब्रह्माजी की सेवा करते हैं, उनको मोक्ष के अतिरिक्त सर्वार्थसिद्धि प्राप्त होती है, क्योंकि ब्रह्माजी रजोगुण के अधिष्ठाता होने के कारण राजस हैं और उनके राजस होने के कारण उनका भजन करना मोक्ष का साधन नहीं हो सकता। इस बात का प्रमाण देने के लिए आपश्री कहते हैं कि, मोक्ष के संदर्भ में ब्रह्माजी ने अपने शास्त्र में अल्पमात्रा में कहा है। अल्पमात्रा में इसलिए क्योंकि ब्रह्माजी सृष्टि के सर्जक हैं, वैखानसमतानुसार भगवान की पूजा का उपदेश देने वाले हैं, सर्वश्रेष्ठ स्थान पर हैं एवं सभी को भगवान के अवतार आदि की पूर्वसूचना देने वाले हैं, अतः ब्रह्माजी सर्वोपकारी हैं। और इसी दृष्टि से वे भजनीय बनते हैं, मोक्षदाता के रूप में नहीं ॥११॥

अतः विष्णुशिवयोरपि भजनीयत्वार्थं लोकोपकारकत्वं वदन्ति वस्तुन इति ।

वस्तुनः स्थितिसंहारौ कार्यौ शास्त्रप्रवर्तकौ ।

ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् सर्वात्मकतयोदितौ ॥१२॥

स्थितिसंहारौ मूलेच्छाधीनौ, यादृशी यदा मूलेच्छा तदा तादृशः कालोपि भवति । तथैव मोहकशास्त्रप्रवर्तकत्वं शिवकणादगौतमादेः, बुद्धस्य ऋषभस्य च चरित्रादिना लोकव्यामोहः । एवं शास्त्रच्छलैर्मोहितानामुत्पथगामिनां तद्वासनानिवृत्त्यर्थं संहार एव तेषां हितकारकः । एवं शिवस्य लोकोपकारकत्वम् । स्थितिश्च सत्त्वाधीना, तदधिष्ठाता विष्णुः, सात्त्विककालशास्त्रादिप्रवर्तकः । एवं विष्णोर्जगद्धितकर्तृत्वं स्पष्टम् । स्थितिसंहाररूपे कार्ये ब्रह्मैव समर्थं भवति, तस्मादुभयविधकार्यकर्तृत्वशक्तिमत्त्वादुभयोर्ब्रह्मत्वम् ।

अतः विष्णु और शिव की भी भजनीयता बताने के लिए वे किस प्रकार से लोक का उपकार करते हैं, यह आपश्री वस्तुनः इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं।

सृष्टि की 'स्थिति' और 'संहार' भगवान की मूलेच्छा पर आधारित होते हैं, जब जैसी भगवान की मूलेच्छा होती है, तब काल भी वैसा ही हो जाता है। काल वैसा हो जाने का अर्थ यह है कि, जब भगवान की संहार करने की इच्छा होती है, तब भगवान की ही इच्छा से अमुक काल में शिव-कणाद-गौतम आदि मोहकशास्त्रों का निर्माण करते हैं और भगवान की ही इच्छा से बुद्ध एवं ऋषभ आदि के चरित्रों से लोक व्यामोहित/भ्रमित हो जाता है। इस प्रकार मोहशास्त्र द्वारा छले गए, मोहित/भ्रमित विपरीतमार्ग पर चलने वालों की वासना की निवृत्ति करने के लिए उनका संहार करना ही उनके लिए हितकारक होता है। अतः ऐसों का संहार करने के द्वारा शिव लोक के लिए उपकारी बनते हैं। सृष्टि की स्थिति सत्त्वगुण के अधीन होती है, यानि सत्त्वगुण के कारण ही सृष्टि टिकती है क्योंकि सात्त्विककाल होगा और सात्त्विकशास्त्रों का निर्माण होगा तो सृष्टि भी सात्त्विक बनेगी, धर्माचरण बढ़ेगा, पाप नहीं होंगे। परन्तु यदि सभी तामस हो गए तो सभी का संहार हो जायेगा और सृष्टि चल नहीं पायेगी- यह अर्थ है; और सत्त्वगुण के अधिष्ठाता देवता विष्णु हैं, जो कि सात्त्विककाल और सात्त्विकशास्त्र आदि के प्रवर्तक हैं। यों इस प्रकार से विष्णु का जगत का हित करना स्पष्ट हो जाता है। ये दोनों देवता जो 'स्थिति' और 'संहाररूप' कार्य करते हैं, उन कार्यों को करने में मूलतः तो ब्रह्म ही समर्थ होते हैं, अतः इन दोनों देवताओं में दोनों कार्यों को करने की शक्ति विद्यमान होने के कारण ये दोनों देवता ब्रह्मरूप हैं।

यथा आराप्रमात्रस्य जीवस्य व्यापकत्वश्रुतिर्भगवदात्मकत्वेन युज्यते, एवमेतौ सर्वात्मकतया ब्रह्मत्वेन रूपेण श्रुतौ उदितौ ।

तथाहि, 'विश्वं भूतभुवनं चित्रं बहुधा जायमानं च यत्, सर्वो ह्येष रुद्रः तस्मै रुद्राय नमोऽस्तु । 'यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेपि वा अन्तर्बहिश्च, तत्सर्वं व्याप्य नारायण स्थितः' इत्यादिभिरुभयोस्तथात्वम् । न हि श्रुतयो ब्रह्मातिरिक्तं किञ्चित्स्तुवन्ति, अलौकिकार्थवक्तृत्वात् । श्रुतौ देवतायाः स्तुतिर्ब्रह्मात्मकत्वेन रूपेण, न स्वतन्त्रतया ।

जिस प्रकार चावल के अग्रभाग जितने छोटे जीव को श्रुति द्वारा व्यापक बताना उस जीव के ब्रह्म से जुड़े होने के कारण ही संगत बैठता है, क्योंकि जब जीव भगवान से जुड़ता है तब भगवान के धर्म उसमें आ जाते हैं अतः छोटा जीव भी तब भगवदात्मक हो जाता है, इसलिए ब्रह्म से जुड़े होने के कारण ही श्रुति जीव को व्यापक बताती है उसी प्रकार ये दोनों देवताओं में भी ब्रह्म के धर्म आ जाने के कारण श्रुति ने इन्हें सर्वात्मकतया यानि ब्रह्मरूप से इनका वर्णन किया है। तात्पर्य यह कि श्रुतियों ने भी भगवदात्मक होने के कारण ही जीव को व्यापक बताया है, वास्तव में तो व्यापक भगवान हैं, जीव नहीं; ठीक उसी प्रकार जब विष्णु और शिव 'स्थिति' और 'संहार' के कार्य करते हैं, जो कि वास्तव में ब्रह्म के कार्य हैं, विष्णु और शिव के नहीं, तब इन कार्यों को देखते हुए श्रुति ने दोनों को सर्वात्मकतया यानि ब्रह्मरूप से इनका वर्णन कर दिया; जैसा कि "विश्वं भूतभुवनं(महा03प0/25)", "यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं(महा03प0/13)" इत्यादि श्रुतियों में विष्णु और शिव को ब्रह्मरूप से बताया गया है। वास्तविकता तो यह है कि, श्रुतियाँ कभी भी ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी की स्तुति करती ही नहीं क्योंकि श्रुतियाँ तो हमेशा अलौकिक अर्थ-को बताने वाली होती हैं। इसलिए श्रुति में यदि देवताओं की स्तुति आती है, तो उनके ब्रह्मरूप होने के कारण आती है, वह स्तुति उन देवताओं की स्वतन्त्रतया स्तुति नहीं है, वह तो ब्रह्म की स्तुति है।

किञ्च, तामसादिकल्पेषु तामससृष्टे रुद्रः कर्त्ता, पालयिता, संहारकश्च । न हि ब्रह्मणः पालकसंहारकशक्तिमत्त्वं, केवलं सर्जकत्वमेव । विष्णुशिवयोर्विविधशक्तिमत्त्वं श्रुतिसिद्धम् । परं कल्पभेदेन विजातीयसर्जकत्वेन । सात्त्विकसर्जकत्वं सत्त्वाधिष्ठातुः । तामससर्जकत्वं तमोधिष्ठातुरिति ॥१२॥

और एक बात यह भी है कि, तामसादि कल्पों में तो तामससृष्टि के कर्त्ता भी रुद्र माने गए हैं, पालन करने वाले भी रुद्र और संहार करने वाले भी रुद्र माने गए हैं और सात्त्विकादि कल्पों में सात्त्विकसृष्टि के कर्त्ता भी विष्णु माने गए हैं, पालन करने वाले भी विष्णु और संहार करने वाले भी विष्णु माने गए हैं; परन्तु ब्रह्माजी को श्रुतियों ने पालक और संहारक शक्तिवान कहीं नहीं कहा है, केवल सर्जक ही कहा है। जबकि विष्णु और शिव दोनों के पालनसंहार आदि विविधशक्तिशाली होने की बात तो श्रुतिसिद्ध बात है, परन्तु विविध कल्पों के अनुसार जब वे विजातीयकार्य कार्य करते हैं तब। अर्थात् भिन्न भिन्न कल्पों में जब विष्णु और शिव अपने निश्चितरूप से दिए जाने वाली वस्तु के अतिरिक्त अन्य दूसरी वस्तु भी दे देते हैं, तब श्रुति ब्रह्मरूपत्वेन इनकी स्तुति करती है। तात्पर्य यह कि सात्त्विकसृष्टि के सर्जक सत्त्वगुण के अधिष्ठाता विष्णु हैं और तामससृष्टि के सर्जक तमोगुण के अधिष्ठाता शिव हैं ॥१२॥

एवं सृष्टिकर्तृत्वेन जगदात्मकत्वेन च निरूप्य प्रकारान्तरेण च तन्निरूपयन्ति निर्दोषेति ।

निर्दोषपूर्णगुणता तत्तच्छास्त्रे तयोः कृता ।

भोगमोक्षफले दातुं शक्तौ द्वावपि यद्यपि ॥१३॥

भोगः शिवेन मोक्षस्तु विष्णुनेति विनिश्चयः ।

लोकेऽपि यत्प्रभुर्भुङ्क्ते तन्न यच्छति कर्हिचित् ॥१४॥

सात्त्विकतामसादिषु शास्त्रेषु निर्दोषपूर्णगुणता परमकाष्ठापन्नवस्तुरूपत्वं विष्णुशिवयोरेव प्रतिपादितम् । यत इमौ परमकाष्ठात्वं प्राप्तौ । अतः द्वावपि भोगमोक्षफले दातुं शक्तौ । भोगः विषयैरिन्द्रियतर्पणम्, मोक्षः सवासनसङ्घातलयः । एतदुभयं सविशेषं दातुमुभावपि समर्थौ यद्यपि, तथापि भोगः शिवेनैव, मोक्षो विष्णुनैवेति निश्चयः ।

इस प्रकार से विष्णु और शिव ब्रह्मरूप हैं, यह बात इनके द्वारा सृष्टि की जाने के दृष्टिकोण से एवं इन्हें जगदात्मकरूप से निरूपित करके अब आचार्यचरण दूसरे प्रकार से भी इनकी ब्रह्मरूपता निर्दोष इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

सात्त्विक और तामस आदि शास्त्रों में निर्दोषपूर्णगुणता यानि परमकाष्ठापन्नवस्तुरूप से विष्णु और शिव को ही प्रतिपादित किया गया है। क्योंकि ये दोनों परमकाष्ठा को प्राप्त हुए हैं अतः दोनों ही भोग-मोक्ष दोनों ही प्रकार के फल देने में समर्थ हैं।

यहाँ भोग का अर्थ है- विषयों के द्वारा इन्द्रियों की तृप्ति होनी, और मोक्ष का अर्थ है- वासनाओं सहित संघात का ब्रह्म में लय हो जाना। उक्त दोनों फल यद्यपि विष्णु और शिव दोनों ही विशेषतया देने में समर्थ हैं, तथापि 'भोग' शिव से प्राप्त होता है एवं 'मोक्ष' विष्णु से ही- यह निश्चित है।

एवं व्यवस्थायां दृष्टान्तत्वेन हेतुमाहुर्लोक इति । लोके होतादृशी व्यवस्था सर्ववादिसिद्धा । यत्प्रभुणा भुज्यते तन्नान्यस्मै कस्मा अपि दीयते, अयोग्यत्वात् । शिवेन समाधौ मोक्षरूपः परमानन्दानुभवः क्रियते, तेन तदनुभावज्ञत्वात् सर्वस्वं दुर्लभमिति मत्वा भगवद्विमुखां ज्ञात्वा 'पत्नी हि सर्वस्य मित्रम्' इति श्रुत्या सर्वात्मना मित्रत्वमापन्नाया अपि यत्र न प्रयच्छति, तन्नान्यस्मै न प्रयच्छतीति किं वाच्यम्? । ये त्वेतद्दानेऽयोग्यास्तेषां तद्दानं ज्वरितस्यान्नदानमिव नाशजनकं भवति न तु योग्यानाम् । तदग्रे वक्ष्यामः । विष्णुरपि श्रियं भुङ्क्ते। तेन न स्वभोग्यामन्यस्मै असमानाय प्रयच्छति । यतो योग्यानामनुग्रहैकस्वभावः भजतां लक्ष्म्यादिदाने मत्ताः सन्तः प्रच्युता भविष्यन्तीति मुक्तिप्रतिबन्धिकां स्वानुसन्धानप्रतिबन्धिकां श्रियं प्रत्युत हरति, न तु प्रयच्छति ।

इस प्रकार की व्यवस्था क्यों बनायी गयी, इसे समझाने के लिए आपश्री लोक इत्यादि शब्दों से दृष्टान्त दे रहे हैं। इससे आपश्री यह कह रहे हैं कि लोक में भी ऐसी व्यवस्था सर्वसम्मत है कि जिस वस्तु का भोग स्वामी करता है, उस वस्तु को वह अन्य किसी ऐसे-वैसे को नहीं देता, क्योंकि अन्य कोई उसके योग्य नहीं होते। ठीक इसी प्रकार शिव भी समाधि अवस्था में मोक्षरूप परमानन्द का अनुभव करते हैं, इसलिए परमानन्द के अनुभव को जानते होने के कारण शिव परमानन्द को सर्वस्व, बड़ा दुर्लभ जानते हुए अयोग्यों को भगवद्विमुख जानकर उन्हें परमानन्द नहीं देते। और यद्यपि "पत्नी ही निश्चितरूप से सभी समय मित्र होती है(कृष्णयजु0/तै0स0/6/2/9)" इस श्रुति द्वारा पत्नी तो सभी प्रकार से मित्र होती है, तथापि ऐसा मोक्षसुख तो शिव अपनी पत्नी को भी नहीं देते, फिर दूसरों को नहीं देते, इस बात में अब क्या कहना शेष रह जाता है। क्योंकि जो इस दान के योग्य नहीं हैं, उनको दान दे दिया जाय, तो यह ज्वर से पीड़ित व्यक्ति को भोजन देने समान उसका नाशकारी सिद्ध होगा, किन्तु योग्य व्यक्तियों के लिए नाशकारी नहीं होगा। इस मुद्दे को हम आगे स्पष्ट करेंगे। इसी प्रकार विष्णु भी श्री/लक्ष्मी का भोग करते हैं, इसलिए जो अपने खुद के भोग करने के लिए श्री/लक्ष्मी है, उसे किसी अनधिकारी व्यक्ति को नहीं देते, क्योंकि अनुग्रह का ही स्वभाव रखने वाले विष्णु यदि भजन करने वाले योग्यजनों को लक्ष्मी आदि का दान दे दें, तो वे मत्त होकर भक्तिमार्ग से प्रच्युत हो जायेंगे; अतः उनकी मुक्ति में प्रतिबन्धक और अपने अनुसन्धान में प्रतिबन्धक बनने वाली श्री/लक्ष्मी को विष्णु उल्टे हर लेते हैं, उसका दान नहीं देते।

किञ्च, यथा निःकामं शिवं भजतामेवाल्पप्रसाद्यः शिवः प्रसन्नो भूत्वा ब्रह्मविद्यादानपूर्वकं वैष्णवधर्मोपदेशपूर्वकं वा मुक्तिं प्रयच्छति, न तथा सकामानाम् । ते यथावत् काम्यं प्राप्य भगवतः प्रच्युता भवन्ति । यतस्ते कृतपुण्यपुञ्जाः । भगवतापि तथैव सकामानां । ते यथावत्काम्यं प्राप्य तथैवोक्तं 'चतुर्विधा' इत्यादिना सकाममपि भगवद्भजनं कर्तारः काम्यं भुक्त्वापि भगवद्भजनमाहात्म्याज्जन्मान्तरेपि तथा संस्कारवन्तो भगवदिच्छां प्राप्य यदा ते निःकामा भूत्वा भगवन्तं भजन्ति, तदा कृतार्था भवन्ति । न त्वेवं शैवाः ॥१४॥

और, जिस प्रकार निष्कामभाव से शिवभजन करने वालों पर ही शीघ्र प्रसन्न हो जाने वाले शिव ब्रह्मविद्या का दान देकर अथवा तो वैष्णवधर्म का उपदेश देकर मुक्ति देते हैं, उस प्रकार से सकामभक्तों को नहीं देते। सकामभक्त यथावत् शिव से अपनी कामनाएँ प्राप्त करते हैं और भगवान से दूर हो जाते हैं। चूँकि निष्कामभक्तों ने पुण्य किए होते हैं अतः वे भगवान से दूर नहीं होते। भगवान भी सकामभक्तों को शिव की भाँति उनकी कामनाओं की पूर्ति करवा देते हैं। किन्तु, सकामभक्त भगवान से यथावत् कामनाएँ प्राप्त करके "चतुर्विधा(भ0गी-7/16)" इस वाक्यानुसार भगवद्भजन करते हुए अपनी कामनाओं का भोग करने के उपरान्त भी जब भगवद्भजन के माहात्म्य को जान लेते हैं, तब जाकर दूसरे जन्म में भी जब संस्कारी बनते हैं और जब भगवदिच्छा से निष्काम होकर भगवान का भजन करते हैं, तब कृतार्थ बन जाते हैं। परन्तु शिवभक्तों के लिए ऐसी व्यवस्था नहीं है कि वो पहले तो सकाम हों तत्पश्चात् दूसरे जन्म में निष्कामभक्त बनें और तब कृतार्थ बनें ॥१४॥

एवं विष्णुशिवयोः भजतां प्रत्येकं सर्वथा भोगमोक्षाप्रदाने दानशक्तिरपगता भविष्यतीत्याशङ्क्य पक्षान्तरमाहुः अत इति ।

अतः प्रियाय तदपि दीयते क्वचिदेव हि ।
 नियतार्थप्रदानेन तदीयत्वं तदाश्रयः ॥१५॥
 प्रत्येकं साधनश्चैतद् द्वितीयार्थं महाज्झमः ।
 जीवाः स्वभावतो दुष्टा दोषाभावाय सर्वदा ॥१६॥
 श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिद्ध्यति ।
 मोक्षस्तु सुलभो विष्णोर्भोगश्च शिवतस्तथा ॥१७॥
 समर्पणेनाऽऽत्मनो हि तदीयत्वं भवेद्भुवम् ।
 अतदीयतया चाऽपि केवलश्चेत्समाश्रितः ॥१८॥
 तदाश्रयतदीयत्वबुद्ध्यै किञ्चित्समाचरेत् ।

उभयथा भजनस्य 'अकामः सर्वकामो वा' इत्यादिना विहितत्वात् । यत एतददाने उभयविधापि दानशक्तिरुभयेभ्योप्यपगच्छति ।
 अतः क्वचित्तदपि दीयते । अधिकारिणमाहुः प्रियायेति । तादृशेभ्योऽपि क्वचिदेव दीयते । यथा प्रियव्रताम्बरीषादीनां प्रियेभ्यो
 भगवद्भक्तवत्सलत्वात् स्वभोग्यमपि ददाति । तदपि क्वचिदेव । यत्र दाने सम्प्रदानानाशः, अप्रच्युतिश्च भवति, तत्रैव दीयते ।
 अत एवकारः । उद्धरणैकस्वभावस्य नियतार्थप्रदानं युक्तमित्याहुर्हीति ।

अब यहाँ शंका यह होती है कि, दोनों प्रकार के फल देने की शक्ति तो यद्यपि इन दोनों देवताओं में है ही, तथापि यदि विष्णु
 और शिव अपना भजन करने वालों को क्रमशः भोग और मोक्ष न देते हुए अपनी दूसरी शक्ति का उपयोग ही नहीं करेंगे, तो
 उनकी शक्ति ही क्षीण हो जायेगी, तात्पर्य यह कि यदि किसी वस्तु को याद करके दोहरायेंगे नहीं तो स्मरण नहीं रहेगा।
 शक्ति का उपयोग ही नहीं करेंगे तो शक्ति क्षीण हो जायेगी- तो आचार्यचरण पक्षान्तर करके अतः इत्यादि शब्दों से इन
 दोनों के द्वारा दिए जाने वाले दूसरे फल के विषय में बता रहे हैं।

भजन तो सकामरूप से और निष्कामरूप से दोनों प्रकार से किया जा सकता है, जैसा कि "अकामः सर्वकामो वा(श्री०भा-
 2/3/10)" इस वाक्य में बताया भी गया है, इसलिए भक्त तो अपने देवता से भोग भी चाह सकता है और मोक्ष भी इसलिए
 विष्णु और शिव जो फल देते हैं उस फल के अतिरिक्त यदि दूसरा फल न दें, तो अतिरिक्तफल देने की दोनों शक्तियाँ इन दोनों
 देवताओं में से निकल जायेगी; अतः कभी-कभार ये दूसरा फल देते भी रहते हैं, यानि विष्णु कभी 'भोग' भी दे देते हैं और शिव
 कभी 'मोक्ष' भी दे देते हैं। परन्तु इसके अधिकारी कौन हैं, यह आपश्री प्रियाय इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। यानि विष्णु और
 शिव अपने किसी प्रियभक्त को भी कभी-कभार ही दूसरे प्रकार का फल देते हैं, हमेशा नहीं ; सामान्यतया तो शिव 'भोग' देते हैं
 और विष्णु 'मोक्ष', परन्तु अपने किसी प्रियभक्त को विष्णु कभी 'भोग' दे देते हैं और शिव कभी 'मोक्ष' दे देते हैं, उसी प्रकार से
 जिस प्रकार प्रियव्रत, अम्बरीष आदि अपने प्रियभक्त को भगवान ने भगवद्भक्तवत्सल होने के नाते स्वयं अपने लिए भोग करने
 वाली वस्तु भी दे दी थी। दूसरे प्रकार का फल भी विष्णु और शिव किसी विरले को ही देते हैं; यानि जहाँ देने के पश्चात् लेने वाले
 का नाश न होता हो और वह सन्मार्ग से च्युत न होता हो, उसी को देते हैं- यह बात बताने के लिए आपश्री ने क्वचिदेव पद में
 'एव' का प्रयोग किया है। इसलिए अपने भक्त का केवल उद्धार ही करने का स्वभाव रखने वाले देवता यदि अपने भक्त के उद्धार को
 ध्यान में रखते हुए नियत/सीमित वस्तु का ही दान करते हों, तो यह बात युक्त ही है, यह आपश्री ने हि शब्द का प्रयोग करके
 बताया है क्योंकि सीमित वस्तु का दान देंगे तब ही भक्त का नाश होने से बचा जा सकेगा और तब ही इनका उद्धार करने का
 स्वभाव भी सिद्ध हो पायेगा- यह अर्थ है।

ननु प्रियेभ्योपि नियतार्थदाने सकृद्दाने दातुरशक्तिः कार्पण्यं भवेदिति चेत्, न, नियतार्थप्रदानेन चित्तविक्षेपाभावात्तदीयत्वं
 तदाश्रयश्च भवति, तेन नासुरभावप्रवेशः स्यादिति भावः । 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था' इति तेनैव तेषां कार्यसिद्धिः ।
 केवलं तदीयत्वेन तदधीनतया स्थितौ, मुक्तिं दत्त्वा ततः संसारादुद्धृत्य भजनानन्दानुकूलं देहं दत्त्वा, तदपि ददाति । मुक्तोद्धारस्तु
 मूलेच्छाधीनोऽशक्यश्चेति सोऽप्यशक्येऽर्थे भवति, भारदानमाश्रयः ।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, विष्णु यदि अपने प्रियभक्त को भी निश्चित(नियत)किया हुआ दान ही दें यानि केवल एक

ही प्रकार का दान दें, तो इससे उनकी दानशक्ति में सन्देह आता है और वे कृपण भी माने जायेंगे !! नहीं..... ये शंका ठीक नहीं है क्योंकि निश्चित/नियत किया हुआ दान देने से ही भक्त के चित्त में विक्षेप नहीं आता और जिसके कारण वह 'तदीय' एवं 'तदाश्रय' बनता है, जिससे उसमें आसुरभाव का प्रवेश नहीं होता- यह भाव है। क्योंकि "भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः (श्री० भा- 5/6/17)" इस वाक्यानुसार केवल तदीय हो जाने मात्र से ही समस्त कार्य सिद्ध हो जाते हैं। केवल 'तदीय' होकर अपने अधीन रहने वाले भक्त को भी विष्णु मुक्ति देकर, अर्थात् उसका संसार छुड़वा कर, भजनानन्द का अनुभव कर सके ऐसी देह प्रदान करके 'भोग' भी देते हैं। किन्तु ऐसे मुक्तजीव का भी उद्धार होना तो भगवानपुरुषोत्तम की मूलेच्छा के अधीन है एवं अन्य दूसरों के लिए अशक्य भी है; और ऐसी अशक्य परिस्थिति में भगवानपुरुषोत्तम ही उसका उद्धार करने की सामर्थ्य रखते हैं। किसी का आश्रय करने का अर्थ है- अपना भार उस पर डाल देना।

एवं प्रत्येकं साधनभूते द्वे । तत्रैकं सुसाध्यमपरं कष्टसाध्यं चेति । तत्र हेतुर्जीवा इति । स्वभावतस्ते दुष्टाः, यद्यपि तथाभूतानां निवेदनमप्यशक्यम् । तथापि, तद्दोषयुक्तस्यात्मनिवेदने शक्तिरेव न भवेत् । (निवेदने) क्रियमाणे ते दोषा अपि निवेदिताः स्युः । ततस्तेषामप्यपगमश्च स्यात् । द्वितीये तु दोषे विद्यमाने आश्रयसिद्धिरेव न भवेत्, दोषाणां चित्तविक्षेपजनकत्वात् । तस्मिन् सति भगवदनुसन्धानाभावादाश्रयासिद्धेः । तस्मादात्मनिवेदनतस्तद्दोषनिवर्तनद्वाराऽश्रयसाधकं श्रवणादि नवकं कर्तव्यम् । एतदेवोक्तं मातरं प्रति कपिलेन । 'यथा यथात्मा परिमृज्यते' इति ।

इस प्रकार से विष्णु और शिव प्रत्येक से इनकी प्रकृति से विपरीत दूसरा फल प्राप्त करने के लिए दो साधनभूत पदार्थ हैं- एक इनका 'तदीय' होना और दूसरा इनका 'आश्रय' कर लेना। इनमें से पहला तो सरलता से साध्य है किन्तु दूसरा कष्टसाध्य है। इसका कारण आपश्री जीवाः स्वभावतो दुष्टाः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। जीव तो स्वभाव से ही दुष्ट होते हैं, यद्यपि ऐसे दुष्टजीवों का तो निवेदन हो पाना भी अशक्य होता है, तथापि, ऐसे दोषयुक्तजीव में तो आत्मनिवेदन करने की शक्ति भी नहीं होती, परन्तु, ऐसा जीव भी यदि येनकेन प्रकारेण भगवान को सर्वस्वनिवेदन कर देता है, तो सर्वस्वनिवेदन कर देने के साथ-साथ उसके दोष भी निवेदित हो जाते हैं, और उसके पश्चात् उसके दोष दूर भी हो जाते हैं। द्वितीय यानि 'तदाश्रय' बनने में तो दोषों के रहते आश्रय सिद्ध ही नहीं हो पाता, क्योंकि दोष उसके चित्त में विक्षेप करते रहते हैं। ऐसे में चूँकि भगवदनुसन्धान नहीं रहता अतः भगवदाश्रय सिद्ध नहीं हो पाता। इसलिए आत्मनिवेदन करना चाहिए और आत्मनिवेदन के द्वारा अपने दोषों को दूर करके आश्रय दृढ करने में साधकरूप श्रवणकीर्तन आदि नवधाभक्ति करनी चाहिए। भक्ति करने की ही बात कपिलदेवजी ने भी अपनी माता को कही है। एकादशस्कन्ध में भी यही बात "यथा यथात्मा (श्री० भा-11/14/26)" इत्यादि वाक्यों द्वारा कही गयी है।

एवं कृते प्रेमैव भवति, नासक्तिव्यसने । अत एव प्रेम्णेत्येकवचनम्, तेन तेषामाश्रयः, तत्साध्यं च सर्वमेव कार्यं (आसक्तिव्यसनादिकं च) सिद्ध्यति । (विष्णुशिवयोः) उभयत्रैषा व्यवस्था । तत्तच्छास्त्रे तयोर्निर्दोषपूर्णगुणत्वनिरूपणात् । मुमुक्षुणां विष्णुविषयत्वेनैव करणमल्पेनैव फलं साधयति । भोगार्थिनां रुद्रविषयकमेवं करणमपि तथैव । एवमेकधा भोगमोक्षसाधनसिद्धिमुक्त्वा प्रकारान्तरेण तन्निरूपयन्ति, 'यथेष्टमुपयोगः कर्तव्यः' इति बुद्ध्या आत्मना सह स्वसर्वस्वनिवेदने कृते सति तदीयत्वं भगवदीयत्वं तन्निवेदनेनैव भवतीत्यर्थः ।

इस प्रकार से जब करेंगे तो केवल प्रेम ही हो पायेगा, आसक्ति-व्यसन नहीं हो पायेंगे, इसी कारण आचार्यचरणों ने प्रेम्णा यों एकवचन का प्रयोग किया है। प्रेम्णा सर्व कार्य हि सिद्ध्यति का अर्थ है- प्रेम होने से विष्णु का आश्रय सिद्ध होता है, और उनका आश्रय सिद्ध होने से ही भक्तों के आसक्ति और व्यसन आदि समस्त कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं। विष्णु और शिव दोनों के भक्तों के लिए यही व्यवस्था है, क्योंकि दोनों के शास्त्रों में दोनों देवताओं को निर्दोषपूर्णगुणस्वरूप बताया गया है। समझने वाली बात यह है कि, मोक्षप्राप्ति की इच्छा रखने वाले को यदि विष्णु के प्रति 'प्रेम-आसक्ति-व्यसन' होते हैं, तो ये साधन उसे थोड़े प्रयत्न से ही फलसिद्धि करा देते हैं। इसी प्रकार भोगप्राप्ति की इच्छा रखने वाले को यदि शिव के प्रति 'प्रेम-आसक्ति-व्यसन' होते हैं, ये साधन उसे थोड़े प्रयत्न से ही फलसिद्धि करा देते हैं। यों एक प्रकार से भोग और मोक्ष सिद्ध करने का साधन कह कर अब आगे आचार्यचरण दूसरे प्रकार से इनके साधन का निरूपण कर रहे हैं; साधन यह कि,

जब भक्त "आप जैसा चाहें मेरा उपयोग करें" इस प्रकार की बुद्धि रखकर इन देवताओं को आत्मासहित अपने सर्वस्व का निवेदन कर देता है, तब निवेदन कर देने से ही उसमें तदीयता/भगवदीयता आ जाती है।

ननु तदीयत्वसहितस्याश्रयस्य मुक्तिसाधकत्वं केवलस्य वा । नाद्यः, मानाभावात् । न द्वितीयः, तदीयत्वसाध्य(फल)स्याश्रयासाध्यत्वादिति चेत् तत्राहुरतदीयतयेति । यथा तदीयत्वं स्वतन्त्रतया मुक्तिसाधकम्, तथाश्रयश्च । तदाह केवल इति । तदीयत्वव्यतिरिक्तः सम्यक्कृताश्रयः, तथापि कार्यं भवत्येव । तदाश्रितोऽहं तदीयोऽहमिति बुद्ध्या भगवदीयानामुत्पथगामित्वे मार्गे अपवादो मा भवत्विति विचार्य बहुधा करणसामर्थ्येऽपि किञ्चित्सत्कर्माचरणं कुर्यादित्यर्थः ॥१८॥

[[अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, (1) तदीय होने सहित विष्णुशिव का आश्रय करना मुक्ति का साधन बनता है, या फिर (2) तदीय न होकर केवल आश्रय कर लेना ही ! तो इसमें प्रथमपक्ष को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इसमें कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता क्योंकि जहाँ जहाँ आश्रय करने के द्वारा कृतार्थ होने की बात आयी है, वहाँ भक्त में तदीयता भी अवश्य थी या होनी चाहिए, ऐसा प्रमाण कहीं देखने में नहीं आता। दूसरा पक्ष भी स्वीकारा नहीं जा सकता, क्योंकि जो फल तदीय हो जाने से प्राप्त होता है, वह फल केवल आश्रय करने से सिद्ध नहीं हो पायेगा ? क्योंकि दोनों का एक समान फल नहीं हो सकता !!!] यदि कोई इस प्रकार से शंका करता हो तो आचार्यचरण अतदीयतया केवलश्वेत्समाचरेत् इत्यादि शब्दों से इसका समाधान कर रहे हैं। इस पंक्ति से आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, जिस प्रकार 'तदीयत्व' स्वतन्त्रतया मुक्ति का साधन है, उसी प्रकार केवल 'आश्रय' करना भी स्वतन्त्रतया मुक्ति का साधन है, इसलिए आपश्री कह रहे हैं कि, यदि अतदीय हों तब भी केवल आश्रय करने से भी मुक्ति प्राप्त होनी संभव है। यानि तदीय हुए बिना भलीभाँति आश्रय करने से भी कार्य सिद्ध हो ही जाता है। परन्तु एक बात यह ध्यान में रखनी चाहिए कि, "मैं तो भगवान के आश्रित हूँ, तदीय बन चुका हूँ" इस प्रकार की बुद्धि रखते हुए विष्णुशिव के भक्त कुछ भी न करें और निष्क्रिय होकर बैठ जाएँ तो इस प्रकार से भगवदीयों के पथभ्रष्ट हो जाने से कहीं मार्ग में अपवाद न हो जाय यानि अब मुझे वर्णाश्रम आदि किसी भी प्रकार के धर्माचरण करने की आवश्यकता नहीं है- ऐसा विचार कर लेंगे तो मार्ग में विसंगति आ जायेगी अतः ऐसी विसंगति न आ जाय- यह विचार करके भले ही तदीयत्व और आश्रय के कारण भक्त में बहुत कुछ करने की सामर्थ्य भी क्यों न आ चुकी हो, तथापि भक्त को कुछ सत्कर्माचरण तो करते रहना चाहिए- यह अर्थ है ॥१८॥

स्वधर्ममनुतिष्ठन् वै भारद्वाजगुण्यमन्यथा ॥

इत्येवं कथितं सर्वं नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः ॥१९^{१/२}॥

समाप्तो मूलग्रन्थः ।

यद्वा, निवेदनान्तरमाश्रयानन्तरं वा यदनुष्ठेयं स धर्मः । तेन स्वधर्मापगमभिया तदनुकूलमेव सत्कर्माचरणीयम् । अत एव, किञ्चिद्युक्तम्, तदुक्तं भगवता, 'यावानर्थ उदपाने' इति ।

अथवा, स्वधर्म का अर्थ वर्णाश्रमधर्म आदि न लेकर निवेदन करने के पश्चात् या आश्रय ले लेने के पश्चात् जो करना होता है, वही भक्त का स्वधर्म होता है, इस प्रकार से करें। इसलिए स्वधर्म नष्ट होने का भय रखते हुए विष्णुशिवभक्तों को जो सत्कर्माचरण अपने स्वधर्म के अनुकूल हों वही करने चाहिए अर्थात् जिन शास्त्रीय सत्कर्माँ को करने से निवेदन या आश्रय भंग न होता हो, वही कर्म करने चाहिए। जिनसे निवेदन या आश्रय भंग होता हो वैसे कर्म भले ही सत्कर्म हों तथापि नहीं करने चाहिए- यह अर्थ है। इसी दृष्टिकोण से आपश्री का कहा किञ्चित्(कुछ)पद कहना युक्त बैठता है। यही बात भगवान ने "यावानर्थ उदपाने(भ०गी-२/४६)" इस वाक्य द्वारा कही है।

अथवा विष्णवाश्रितोहं वैष्णवोहमितिबुद्ध्या किञ्चित् साधारणमपि कर्तव्यम्, न केवलं पुरुषोत्तमसम्बन्धीययोरिव तदीयत्वाश्रययोरिव विश्वासं कृत्वा सर्वान्धर्मान्त्यक्त्वा स्थेयम् । यत एते भगवदंशा, सत्त्वाद्यधिष्ठातारो देवाः । अतएव स्वधर्मं वर्णाश्रमधर्ममनुतिष्ठन्नेव स्यात् । अन्यथा एतदुभयमाश्रित्य तदीययोः पुरुषोत्तमसम्बन्धीयभावेन शारीरधर्मत्यागे प्रयात एव भवेदिति । गुणाधिष्ठातारस्तु विद्यमाने पापे मोचका न भवन्ति । धर्मत्यागजन्यं दूरीकृत्य न ते मोचकाः, सामर्थ्याभावात् । तेन यथा शरीरा धर्मास्तथा तदीयत्वतदाश्रयौ ।

अथवा, तदाश्रयतदीयत्वबुद्ध्या किञ्चित्समाचरेत् का अर्थ यह है कि-"मैं विष्णु के आश्रित हूँ, मैं वैष्णव हूँ" ऐसी बुद्धि रखते हुए कुछ साधारणकर्म(वर्णाश्रमधर्म इत्यादि)भी विष्णुशिवभक्तों को करने चाहिए; आचार्यचरणों का अभिप्राय इनके लिए ऐसा है कि जो विष्णुशिवभक्त हैं, वे पुरुषोत्तमसम्बन्धित तदीय-तदाश्रित भगवदीयजनों की भाँति सभी कुछ प्रभु पर विश्वास करके समस्त धर्मों का त्याग करके नहीं बैठ सकते। ऐसा इसलिए क्योंकि ये देवता भगवान के अंश हैं, सत्त्व आदि गुणों के अधिष्ठाता देवता हैं अतः इनके भक्तों को स्वधर्म यानि वर्णाश्रमधर्मों का पालन करते हुए ही जीवनयापन करना चाहिए, अन्यथा तो इन दोनों देवताओं पर आश्रित रहकर इनके भरोसे रहते हुए पुरुषोत्तमसम्बन्धित भगवदीयजनों की भाँति शारीरधर्मों का त्याग करके बैठ जायेंगे, तो इनका कार्य सिद्ध ही नहीं होगा; ऐसा इसलिए क्योंकि यदि पाप दूर न हुए हों तो गुणाधिष्ठाता देवता भी मोचक नहीं हो सकते। यानि धर्मत्याग करने से उत्पन्न हुए पाप को दूर करके वे भक्त के मोचक नहीं हो सकते क्योंकि उनमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि धर्मत्याग जैसे गंभीर पाप को दूर कर सकें। इसलिए जिस प्रकार से शरीरधर्मों(वर्णाश्रमधर्म)का निर्वाह करना होता है, उसी प्रकार से संग ही संग 'तदीयत्व' और 'तदाश्रयता' के धर्मों का भी निर्वाह करना होता है।

एवं प्रकारेण, इति सर्वं पूर्वं प्रतिज्ञातं कथितम् । विचार्य सारोद्धारः कृतः, यथा औषधीनां क्वाथः । न तु येभ्य एव लीनः सारस्तेभ्यः पृथक् क्रियते, रुग्णानां रोगनिवर्त्तनार्थम् । एवं लौकिकानामलौकिकानामेकीकृत्य निरूपणे लौकिकेभ्यः स्वकीयेभ्योऽलौकिकानां सारोद्धाररूपेण निरूपणे सामान्येभ्यो विशेषाणां निरूपणं भवति, तेनोभयजातीयानामेकविधनामभिर्निरूपणेऽपि न ज्ञाने भ्रमो भवतीत्यर्थः ॥१९^{१/२}॥

इति श्रीद्वारकेश्वरविरचिता बालबोधटीका सम्पूर्णा ।

इत्येवं कथितं सर्वं इत्यादि शब्दों का अर्थ है- यों इस प्रकार से आचार्यचरणों ने ग्रन्थ का आरम्भ करते समय जिन सिद्धान्तों को कहने की प्रतिज्ञा की थी, वे सभी सिद्धान्त आपश्री ने कह दिए। सभी सिद्धान्तों को कहने का तात्पर्य यह कि आपश्री ने लौकिक-अलौकिक दोनों पुरुषार्थों पर विचार करके इस ग्रन्थ में उनका सार निकाल लिया है; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार से रोगियों का रोग दूर करने के लिए औषधियों को निचोड़ कर उनमें से उनका काढ़ा निकाल लिया जाता है। लौकिक-अलौकिक पुरुषार्थ नामसाम्य होने के कारण एकमेक हो गए थे और इस कारण मुख्यपुरुषार्थों का सार भी उनमें लीन हो गया था, उस सार को आपश्री ने न केवल उससे पृथक् ही किया है अपितु उन पर भलीभाँति विचार करके उनका सार हमें इस ग्रन्थ में बताया है। इसका तात्पर्य यह है कि, आपश्री ने लौकिक-अलौकिक पुरुषार्थों को मिलाकर इनका निरूपण करने की प्रक्रिया में लौकिकपुरुषार्थों में से अपने स्वकीयजनों के लिए अलौकिकपुरुषार्थों का सार निकाल कर उनका निरूपण किया है, जिसके द्वारा सामान्यपुरुषार्थों में से अलग हटकर विशेष पुरुषार्थों का निरूपण हुआ है। इससे होगा यह कि शास्त्रों में लौकिक-अलौकिक दोनों पुरुषार्थों का एक ही नाम से निरूपण हुआ होने पर भी उन दोनों प्रकार के पुरुषार्थों को पहचानने में हमें भ्रम नहीं होगा- यह अर्थ है ॥१९^{१/२}॥

यह श्रीद्वारकेश्वरविरचित बालबोधटीका सम्पूर्ण हुई।

